यज्ञोपवीत

द्वारा

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति

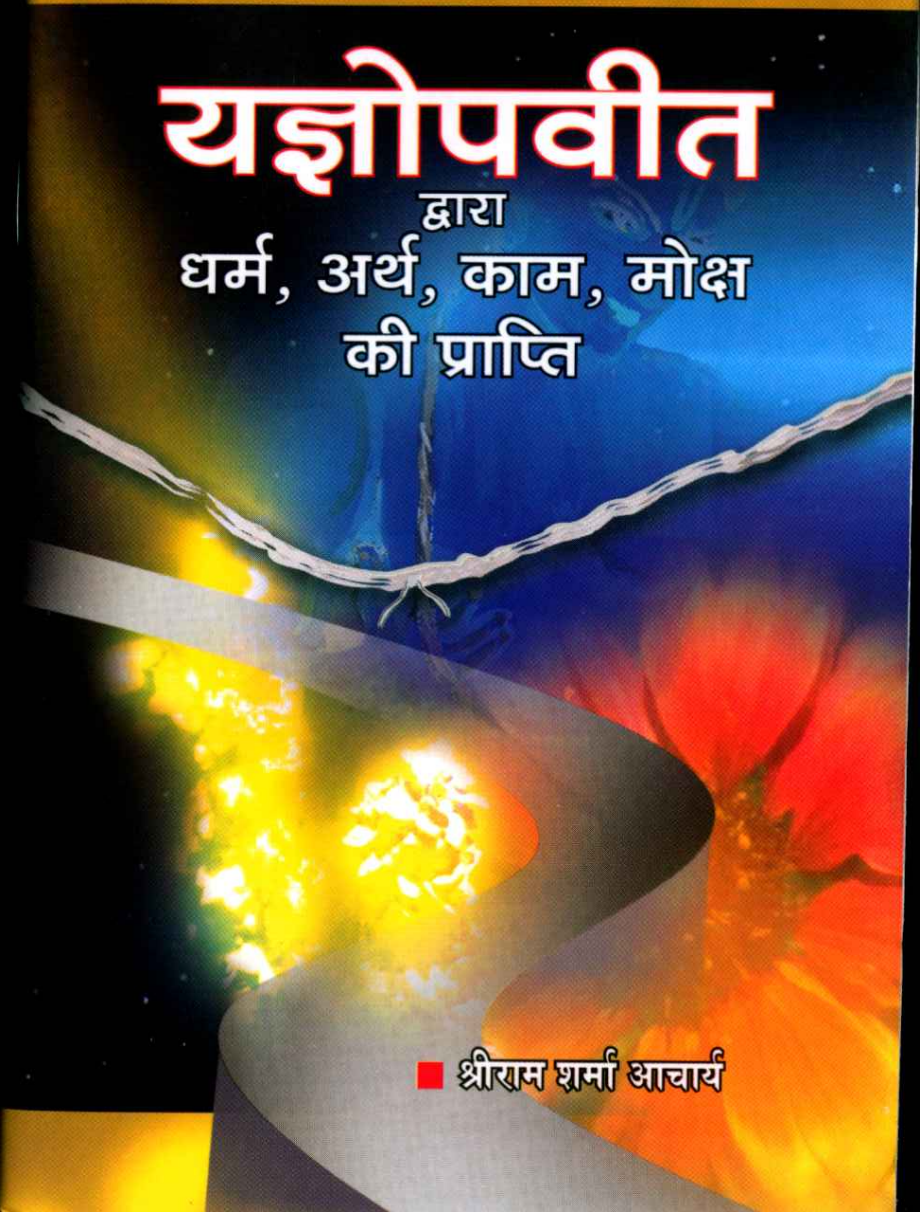

श्रीराम शर्मा आचार्य

॥ वंदे वेद मातरम् ॥

यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मूल्य : १०.०० रुपये

भूमिका

हिन्दू धर्म, आदर्शवादी, सिद्धांतजीवी, संयमी तथा परमार्थी लोगों का धर्म है । इसके प्रणेता वे लोग हैं जिन्हें देवता और ऋषि की महिमामयी पदवी के लिए संबोधित किया जाता है और श्रद्धापूर्वक जिनके लिए समस्त संसार का मस्तक नत होता है ।

भारतीय धर्म की जितनी भी प्रणालियाँ, परम्पराऐं तथा विधि-व्यवस्थाऐं हैं, वे ऐसी हैं जो मनुष्य को देवत्व की ओर प्रेरित करती हैं । उन व्यवस्थाओं में यज्ञोपवीत का स्थान बहुत ऊँचा है, उस साधारण डोरे को निमित्त बनाकर हमारे प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने मानव प्राणी के सम्मुख ऐसा तत्वज्ञान उपस्थित किया है, जिसकी जानकारी मात्र से उद्विग्न मस्तिष्कों में शांति का संचार होता है और उसका आचरण करने पर तो पृथ्वी पर स्वर्ग लोक के दृश्य उपस्थित हो सकते हैं ।

आज अनेक हिन्दू यज्ञोपवीत धारण करते हैं पर उसके तत्वज्ञान तथा माहात्म्य को नहीं जानते । इसी प्रकार गायत्री मंत्र को भी याद तो कर लेते हैं पर उसमें सन्निहित शिक्षा से अपरिचित रहते हैं । इस पुस्तक में उपवीत और गायत्री के संबंध में आवश्यक जानकारी का उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर भारतीय जनता में द्विजत्व के प्रति आकर्षण बढ़े और लोग पाशविक दृष्टिकोण से विमुख होकर मानवता को अपनाने के लिए अग्रसर हों । हमारा विश्वास है कि भारतीय जनता की आत्मिक उन्नति में यह पुस्तक अपनी महत्वपूर्ण सहायता देगी ।

-श्रीराम शर्मा आचार्य

यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण

शास्त्रों में यज्ञोपवीत की महिमा बड़े विस्तार से वर्णन की गई है । उसे प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी बताया गया है । देखिये-

कोटि जन्मार्जितं पापं ज्ञानाज्ञान कृतं च यत् ।
यज्ञोपवीत मात्रेण पलायन्ते न संशयः ॥

-पद्म पुराण कौशल खण्ड

करोड़ों जन्म के ज्ञान-अज्ञान में किये हुए पाप यज्ञोपवीत धारण करने से नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं ।

येनेन्द्राय वृहस्पतिर्व्यासः पर्यदधादमृतं तेनत्वा ।
परिदधाभ्या युष्ये दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

-पा० गृ० २/२/७

जिस तरह इन्द्र को वृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया था, उसी तरह आयु, बल, बुद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं यज्ञोपवीत धारण करता हूँ ।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तर्षयस्तपसे ये निषेदुः ।
भीमा जग्या ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धा दधाति परमे व्योयम् ॥

-ऋग्वेद १०/१०९/४

प्राचीन तपस्वी सप्त ऋषि तथा देवगण ऐसा कहते हैं कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की महान शक्ति है । यह शक्ति अत्यन्त शुद्ध चरित्रता और कठिन कर्तव्य परायणता प्रदान करने वाली है । इस यज्ञोपवीत को धारण करने से नीच जन भी परमपद को पहुँच जाते हैं ।

अमौक्तिकमसौवर्ण्यं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां च पितृणां भागो येन प्रदीयते ॥

-मृच्छकटिक १०/१८

यज्ञोपवीत न तो मोतियों का है और न स्वर्ण का, फिर भी यह ब्राह्मणों का आभूषण है । इसके द्वारा देवता और ऋषियों का ऋण चुकाया जाता है ।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

-ब्रह्मोपनिषद्

यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सबके लिए सहज ही बनाया है । यह आयुवर्द्धक, स्फूर्तिदायक, बन्धन से छुड़ाने वाला, पवित्रता देने वाला है । यह बल और तेज देता है ।

त्रिरस्यता परमासन्ति सत्यास्यार्हा देवस्य जनि मान्यग्नेः ।
अनन्ते अनतः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्योरोरूचानः ॥

-ऋग्वेद ४/७/१

इस यज्ञोपवीत के परम श्रेष्ठ तीन लक्ष्य हैं । सत्य व्यवहार की आकांक्षा, अग्नि के समान तेजस्विता और दिव्य गुणों की पवित्रता इस के द्वारा भली प्रकार प्राप्त होती है ।

सदा यज्ञोपवीतिना भाव्यं सदाबद्ध शिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

-बोधायन

सदा यज्ञोपवीत पहने और शिखा में गाँठ लगाकर रहे, बिना शिखा और बिना यज्ञोपवीत वाला जो धार्मिक कर्म करता है, सो निष्फल जाते हैं ।

बिना यज्ञोपवीत तोयं यः पिबते द्विजः ।
उपवासेन चैकेन पंच गव्येन शुद्धयति ॥

यज्ञोपवीत न होने पर द्विज को पानी तक न पीना चाहिए । (यदि इस नियम के भंग होने से वह पतित हो जाय तो) एक उपवास करने पर

तथा पंच गव्य पीने पर उसकी शुद्धि होती है ।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानि नयनाट्टते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥

यज्ञोपवीत होने से बालक को वेद न पढ़ावे । क्योंकि जब तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता तब तक ब्राह्मण का बालक भी शूद्र समान है ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेश न भिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधि पूर्वकम् ॥

जब बालकों का उपनयन संस्कार हो जावे, तभी शास्त्र की आज्ञानुसार उसका अध्ययन आरम्भ होना चाहिए इससे पूर्व नहीं ।

जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते ।
वेद पाठी भवेद् विप्रः, ब्रह्म जानाति ब्राह्मण ॥

जन्म से सब शूद्र हैं । यज्ञोपवीत होने से द्विज बनते हैं, जो वेदपाठी हैं, वह विप्र हैं । जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
तेषां जन्म द्वितीयं तु विज्ञेयं मौञ्जिबंधनम् ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों द्विज कहलाते हैं क्योंकि यज्ञोपवीत धारण करने से उनका दूसरा जन्म होता है ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

-अथर्व० ११/३/५/३

गर्भ में बस कर माता-पिता के संबंध द्वारा मनुष्य का साधारण जन्म घर में होता है । दूसरा जन्म विद्या रूपी माता के गर्भ में, आचार्य रूपी पिता द्वारा गुरु-गृह में यज्ञोपवीत और विद्याभ्यास द्वारा होता है ।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

यज्ञोपवीत-मेखला धारण करने से मनुष्य का ब्रह्म जन्म होता है । उस जन्म में गायत्री माता है और आचार्य पिता है ।

वेद प्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौजिञ्जबन्धनात् ॥

वेद पढ़ाने वाले आचार्य को पिता कहते हैं । जब बालक का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता है तब उसे धार्मिक कर्मों को करने का अधिकर मिलता है, इससे पूर्व नहीं ।

मातुरग्रेऽधि जननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।

पहला जन्म माता के पेट से होता है । दूसरा यज्ञोपवीत संस्कार से होता है ।

आचार्य उपनयमानो, ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ॥

-अथर्व० ११/३/५/३/४/५

आचार्य जब ब्रह्मचारी का उपनयन करता है, वही वास्तविक जन्म है । तीन रात्रि तक आचार्य उसे गर्भ में रखते हैं, तब उसका देव तुल्य जन्म होता है ।

उपरोक्त शास्त्र वचनों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञोपवीत धारण करना कितना महत्वूर्ण है । इस सूत्र के माध्यम से पशु को मनुष्य बनाने का संस्कार किया जाता है, उसकी मनोभूमि पर यह छाप जमाई जाती है कि पशुओं की तरह मनुष्यों को श्रिश्नोदर परायण-रोटी और कामुकता के पीछे ही पागल नहीं बना रहना है वरन् जीवन को आदर्शमय, उद्देश्यमय, धर्ममय बनाने के लिए नियोजित करना है । यह आयोजन, यह व्रत, यह संकल्प, यह प्रतिज्ञा धारण करना ही जनेऊ पहनना है । इस व्रत को कंधे पर धारण करने वाला पशुता से ऊँचा उठकर मनुष्यता की मनोभूमि में विकसित होना आरम्भ करता है इसलिए यह द्विजत्व या दूसरा जन्म धारण करना कहा जाता है । भारतीय धर्म विज्ञान के आचार्यों ने उस बात पर बहुत जोर दिया है कि लोग अपने बालकों को छोटी आयु में ही उपवीत करा दें ताकि वे बचपन से ही धर्म का, कर्तव्य का महत्व अनुभव करने लगें ।

यज्ञोपवीत न धारण करने का दण्ड

जो लोग आलस्य, प्रमाद या अज्ञानवश उपवीत धारण नहीं करते । 'हमसे जनेऊ सधेगा नहीं'-ऐसी बेसिर-पैर की आशंकाऐं और दलीलें गढ़कर इस महान् धर्म धारणा से बचते हैं, उनकी मूर्खता के प्रति शास्त्रकारों ने प्रातः स्मरणीय ऋषियों का अत्यन्त क्रोध प्रदर्शित किया है, उनकी बुरे से बुरे शब्दो में निन्दा की है और स्पष्ट शब्दों में उनका सामाजिक बहिष्कार करने का आदेश दिया है । ईश्वर ने यज्ञोपवीत को सबके लिए बड़ा सरल बनाया है, फिर भी उसे धारण करके आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न यदि नहीं किया जाता तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे लोग पशु स्थिति में ही पड़े रहना पसन्द करते हैं । ऐसे लोगों को विरोध द्वारा, सामाजिक तिरस्कार द्वारा सीधे रास्ते पर लाने के कटु उपायों का प्रयोग करने का भी शास्त्रकारों को आदेश देना पड़ा है । उनको शूद्र कहकर एक प्रकार की गाली दी गई है और ऐसे लोगों के साथ दुर्व्यवहार करके, क्रोध और घृणा द्रदर्शित करके दण्ड देकर भी ऐसा प्रयत्न करने के लिए कहा गया है ताकि वे अपनी भूल स्वीकार करके जीवन का सदुपयोग करने के लिए, प्रतिज्ञामय जीवन बिताने के लिए यज्ञोपवीत धारण करने के लिए तैयार हो जाँय । नीचे कुछ ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं, जिनमें यज्ञोपवीत न पहनने वालों के सामाजिक बहिष्कार का विधान है । देखिये-

शिशूनयनं ये तु न कुर्वन्ति द्विजातयः ।
सोपाध्यायास्तु ते सर्वे ध्रुवं निरयगामिनः ॥

-नारद संहिता

जो द्विजाति अपने बालकों को जनेऊ नहीं करते वे अपने पुरोहित के साथ निश्चय नरक में जाते हैं ।

यज्ञोपवीत संस्कारं बिना ये हि द्विजातयः ।
पदोदकं सुरा तुल्यं कर्पटं तुलसीदलम् ॥

काकविष्ठा समं तस्य पिंड दानं पितुर्मुखे ।
गोमासं भोजनं तस्य जलं शूकर रक्त वत् ॥

–नारद संहिता

यज्ञोपवीत रहित द्विज के हाथ का दिया हुआ चरणामृत मदिरा के तुल्य और तुलसी पत्र कर्पट के समान है । उसका दिया हुआ पिण्ड दान उसके पिता के मुख में काक विष्ठा के समान है । उसके यहाँ भोजन करना गोमांस के समान और जल पीना शूकर का रक्त पीने के समान है ।

यज्ञोपवींत हीनेन देवि श्रणु महेश्वरी ।
अन्न विष्ठासमःतस्य जलं मूत्र समं स्मृतम् ।
तत्कृतं तस्य वा श्राद्धं सर्वे संयात्यधोगतिम् ॥

–मत्स्य सूक्त

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे देवी ! सुनो, यज्ञोपवीत न पहनने वाले द्विज का अन्न विष्ठा के समान और जल मूत्र के समान है । उसका किया हुआ श्राद्ध सबको अधोगति में ले जाता है ।

यज्ञोपवीत–संस्कारं बिना ये हि द्विजातयः,
वेदमंत्रा न विरतं जप तप कृत बुद्धयं ।
तेषां तु स जपो व्यर्थो विपरीतफलो भवेत्,
असंस्कृतेन नो जप्या अतो मंत्रा द्विजन्मना ॥

–वेदान्त रामायण

जो द्विजाति जनेऊ संस्कार किए बिना मंदबुद्धि से मंत्र जपते और पूजा–पाठादि करते हैं, उनका सब निष्फल है और फल के बदले हानि होती है, अतः बिना जनेऊ–संस्कार हुए द्विजातियों को मंत्रादि का जप नहीं करना चाहिए ।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा,
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ।
न स्वामिना नृसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते,
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ।

–मनुस्मृति अध्याय ८/४१३, ४१४

शूद्र से तो सेवा ही करावे, चाहे वह खरीदकर आया हो चाहे बिना खरीदा, क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्र को ब्राह्मणों की दासता करने के लिए ही उत्पन्न किया है । यदि स्वामी छुटा भी दे, तो भी शूद्र दास्य-कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि दासता उसका स्वाभाविक धर्म है । कौन उस कर्म से उसे अलग कर सकता है ?

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद् यथार्हतः,
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ।
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च,
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥

-मनुस्मृति अध्याय १०/१२४, १२५

अर्थ-भृत्य अर्थात् शूद्र की परिचर्या अर्थात् सेवा करने की शक्ति, काम करने की चतुराई और उसके कुटुम्ब की कितने में गुजर हो सकती है, यह देखकर ब्राह्मण उसकी जीविका (मजदूरी) नियत कर दे और मजदूरी में उसे भोजन से बना हुआ जूठा अन्न, फटे-पुराने कपड़े, धान्य (अन्न) की पछोड़न और पुराना बर्तन-भांडा देना चाहिए ।

भूमावन्नं प्रदातव्यं पथवश्वा तथैव सः ।

-आपस्तंव ९-३४

अर्थ-उसको पृथिवी पर ही अन्न खाने को देना चाहिए क्योंकि जैसे कुत्ता है, वैसे ही वह शूद्र है ।

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः,
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ।
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः,
तं राजा निधनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ।।

-मनु० अ० १०/१२९-९६

अर्थ-धन कमाने की शक्ति रखते हुए भी शूद्र को धन का संचय न करना चाहिए । क्योंकि शूद्र धनवान होकर ब्राह्मण को बाधा देता है ।

अगर लोभ में आकर अधम जाति शूद्र ऊँची जाति के कर्मों को करके धन कमाने लगे तो राजा उसका सब छीनकर उसे फौरन देश से निकाला दे ।

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।

-मनु० ५/१४०

अर्थ-न्याय के मार्ग पर चलने वाले शूद्र को चाहिए कि हर महीने अपना शिर घुटा लिया करे ।

शूद्रश्चतुर्थो वर्णस्तु सर्वसंस्कारवर्जितः,
उक्तस्तस्य तु संस्कारो द्विजेष्वात्मनिवेदनम् ।

-विष्णुस्मृति अ० १/१५

चौथा वर्ण शूद्र सब संस्कारों से हीन है, उसका संस्कार यही है कि वह अपने आपको द्विजों के समर्पण कर दे ।

शूद्राणां द्विजशुश्रुषा परमो धर्म उच्यते,
अन्यथा कुरुते किंचित् तद्भवेत्तस्य निष्फलम् ।

-पाराशर स्मृति १/७०

द्विजों की सेवा करना ही शूद्र का परम धर्म है । इसके अतिरिक्त शूद्र जो धर्म संबंधी कृत्य करता है, वह उसका निष्फल है ।

विकर्म कुर्वते शूद्रा द्विजशुश्रूपयोज्झिताः ।
भवन्त्यल्पायुपस्ते वै निरयं यान्त्यसंशयम् ॥

-पाराशर स्मृति अ० २/१९-२०

जो शूद्र द्विजों की सेवा को छोड़कर अन्य काम करता है, वह अल्पायु होता है और निःसंदेह नरक में पड़ता है ।

एके वै तच्छमशानं ये शूद्रास्तस्माच्छूद्रसमीपे माध्येतव्यम् ।

-वसिष्ठस्मृति अ० १८/९

कोई आचार्य कहते हैं कि शूद्र श्मशान के तुल्य अपवित्र है । इससे शूद्र के समीप वेद को न पढ़ें ।

न शूद्रय मतिं दद्यात् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्,
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चाप्य व्रतमादिशेत् ।

यो ह्यस्य धर्मसावष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्,
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥

-मनुस्मृति अ० ४/८०/८

शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न उविष्कृत अर्थात् होम से बचा हुआ भाग देना चाहिए और न उसको धर्म का उपदेश ही देना चाहिए । यदि कोई शूद्र को धर्म का उपदेश और व्रत का आदेश करता है, तो वह उस शूद्र के साथ 'असंवृत' नाम वाले महा अंधकारमय नरक में डूबता है ।

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः,
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ।

-मनु० (३-१७८)

शूद्र को पूजा-पाठ कराने वाला ब्राह्मण यदि किसी के घर पर श्राद्धादि में भोजन करते हुए ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठकर भोजन करता है, तो उसके स्पर्श से उन सम्पूर्ण ब्राह्मणों को खिलाने का फल दाता को नहीं होता ।

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र प्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ।

-गौतम धर्म सूत्र १२-४

शूद्र यदि वेद को सुन पावे, तो उसके कानों में (पिघला हुआ) सीसा और लाख भरवा देना चाहिए । यदि वेद का उच्चारण करे, तो उसकी जिह्वा कटवा देनी चाहिए । यदि वेद का स्मरण करे तो उसको मरवा देना चाहिए ।

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणाया क्षिपान्,
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः । २७० ।
नामजातिगृहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः,
निक्षेप्यो यो मयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः । २७१ ।
धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः,
तप्तमास्ये चयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः । २७२ ।

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः,
क्षेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् । २७९।
सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः,
कट्या कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् । २८१।

–मनुस्मृति अ० ८

यदि शूद्र द्विजातियों को दारुण अर्थात् लगने वाली बात कहे, तो उसकी जीभ काट डाली जाय, क्योंकि वह नीच से उत्पन्न है । यदि शूद्र द्रोह से द्विजातियों के नाम और जाति का नाम ले, तो उसके मुँह में जलती हुई दस अँगुल की कील ठोकनी चाहिए । यदि शूद्र अहंकार से ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करे, तो राजा उसके मुँह और कान में गरम तेल डलवा दे और यदि शूद्र उच्च जातियों के साथ एक आसन पर बैठने की इच्छा करे, तो राजा उसकी कमर दाग कर उसे देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़ कटवा दे ।

विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्,
न हि तस्यास्ति किंचित् स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ।

–यज्समृति ८/१७

ब्राह्मण को चाहिए कि निर्भय होकर शूद्र का द्रव्य ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ नहीं है, उसका धन उसके मालिक (ब्राह्मणादि) का ही है ।

मार्जारनकुलौ हत्वा चापं मण्डूकमेव च,
श्वागोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्या व्रतं चरेत् ।

–मनु० ११–१३१

बिल्ली, नेवला, चिड़िया, मेढक, कुत्ता, गधा, उल्लू और कौवा को मार डालने में जितना पाप होता है, उतना ही शूद्र के मार डालने में होता है ।

अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयस्मृतम्,
वैश्य चान्नमेवान्नं शूद्रान्नं रुधिरं ध्रुवम् ।

–अंगिरा

(यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ,

ब्राह्मण का अन्न अमृत के तुल्य, क्षत्रिय का दूध के तुल्य, वैश्य का अन्न के तुल्य और शूद्र का अन्न निश्चय रुधिर के तुल्य है ।

दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहयाद्धविः,
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ।

–पाराशा अ० १२–३७

जो ब्राह्मण शूद्र की दक्षिणा से हवि का होम करता है, वह ब्राह्मण तो (दूसरे जन्म में) शूद्र होता है और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है ।

शूद्रान्ने नादरस्थेन यः कश्चिन् म्रियते द्विजः,
स भवेत्सूकरो ग्राम्यस्तस्य वा जायते कुले ।

–वाशिष्ठ अ० ४–२७

शूद्र के अन्न को खाकर जो ब्राह्मण मरता है, वह दूसरे जन्म में गाँव का सूअर होता है अथवा उसी शूद्र यजमान के कुल में उत्पन्न होता है ।

गृद्धो द्वादश जन्मानि सप्तजन्मानि सूकरः,
श्वानश्च सप्त जन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत् ।

–व्यास

वह बारह जन्म तक गीध, सात जन्म तक सूअर और सात जन्म तक कुत्ता होता है, ऐसा मनु ने भी कहा है ।

उपरोक्त श्लोकों से किसी को यह अनुमान न लगा लेना चाहिए कि किसी वंश या जाति विशेष के लिए हमेशा इसी प्रकार का व्यवहार करने के लिए ऐसी व्यवस्था बनाई गई है । नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता । भारतीय धर्म अपनी उदारता, दया, क्षमा, प्रेम, भ्रातृ-भाव एवं समानता के लिए प्रसिद्ध है । हमारे शास्त्र और ऋषि महर्षि भी प्राणिमात्र में अपनी आत्मा और परमात्मा को कायम समझ कर उनकी सेवा के लिए सच्चे हृदय से तत्पर रहने का आदेश करते हैं, फिर किसी जाति या वर्ग के साथ सदा कठोर व्यवहार करने का आदेश किस प्रकार दे सकते हैं ? उपरोक्त व्यवस्था तो केवल उन व्यक्तियों को डराने, धमकाने के लिए है जो उच्च जीवन बिताने का व्रत लेने से भागते हैं और पशुता के सिद्धांतों का

आचरण करते हुए जीवन बिताना चाहते हैं । शास्त्रकारों का विश्वास था कि उतने बड़े दण्ड, बहिष्कार, निन्दा और भर्त्सना को कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही अविकसित मस्तिष्क का क्यों न हो, अधिक समय तक सहन न करेगा और वह सर्व हितकारी लोक-मत का आदर करने को विवश होगा । द्विजत्व और यज्ञोपवीत को धारण कराने के लिए एक दवाब के रूप में उपरोक्त निन्दा एवं दण्ड की व्यवस्था है । जब कोई भूला मनुष्य अपनी भूल अनुभव करे और कर्तव्य पथ पर लौट आने को तैयार हो जाय तो उसके लिए एक प्रकार के प्रतिदण्डों की कोई आवश्यकता नहीं, उसका तो द्विजत्व की दीक्षा के लिए शास्त्रकारों ने स्वागत ही किया है । इस प्रकरण में कहे हुए शास्त्रीय आदेशों का सार यह है कि हमें पूरी दिलचस्पी के साथ यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए और उसके अतुलित लाभों से लाभान्वित होना चाहिए ।

यज्ञोपवीत संबंधी कुछ नियम

(१) शुद्ध खेत में उत्पन्न हुए कपास को तीन दिन तक धूप में सुखावें । फिर उसे स्वच्छ कर हाथ के चरखे से कातें । कातने का कार्य प्रसन्न चित्त, कोमल स्वभाव एवं धार्मिक वृत्ति वाले स्त्री पुरुषों द्वारा होना चाहिए । क्रोधी, पापी, रोगग्रस्त, गंदे, शोकातुर या अस्थिर चित्त वाले मनुष्य के हाथ का कता हुआ सूत्र यज्ञोपवीत में प्रयोग न करना चाहिए ।

(२) कपास न मिलने पर गाय की पूंछ के बाल, स्तन, ऊन, कुश, रेशम आदि का भी यज्ञोपवीत बनाया जा सकता है, पर सबसे उत्तम कपास का ही है ।

(३) देवालय, नदी तीर, बगीचा, एकान्त, गुरु-ग्रेह, गोशाला, पाठशाला अथवा अन्य पवित्र स्थान यज्ञोपवीत बनाने के लिए चुनना चाहिए । जहाँ-तहाँ गंदे, दूषित, अशांत वातावरण में वह न बनाया जाना चाहिए और न बनाते समय अशुद्ध व्यक्तियों का स्पर्श होना चाहिए ।

(४) बनाने वाला स्नान, संध्यावंदन करने के उपरान्त स्वच्छ वस्त्र

धारण करके कार्य आरम्भ करे । जिस दिन यज्ञोपवीत बनाना हो, उससे तीन दिन पूर्व से ब्रह्मचारी रहे और नित्य एक सहस्र गायत्री का जप करे । एक समय सात्विक अन्न अथवा फलाहार, दुग्धाहार किया करें ।

(५) चार उँगलियों को बराबर-बराबर करके उन पर तीन तारों के ९६ चक्कर गिन लें । गंगाजल, तीर्थजल या किसी अन्य पवित्र जलाशय के जल से उस सूत का प्रच्छालन करें । तदुपरान्त तकली की सहायता से इन सम्मिलित तीन तारों को कात लें । कत जाने पर उसे मोड़कर तीन लड़ों में ऐंठ लें । ९६ चप्पे गिनते तथा तकली पर कातते समय मन ही मन गायत्री मंत्र का जप करें और तीन लड़ ऐंठते समय-(आपोहिष्ठा मयो भवः) मंत्र से मानसिक जप करें ।

(६) कते और ईंठे हुए डोरे को तीन चक्करों में विभाजित करके ग्रन्थि लगावें, आरम्भ में तीन गाँठें और अन्त में एक गाँठ लगाई जाती है । कहीं-कहीं अपने गोत्र के जितने प्रवर होते हैं, उतनी ग्रन्थियाँ लगाते हैं और अंत में अपने वर्ण के अनुसार ब्रह्म ग्रन्थि, क्षत्रिय ग्रन्थि और वैश्य ग्रन्थि लगाते हैं । ग्रन्थियाँ लगाते समय (त्र्यम्बकम् यजामहे) मंत्र का मन ही मन जप करना चाहिए । ग्रन्थि लगाते समय मुख पूर्व की ओर रखना चाहिए ।

(७) यज्ञोपवीत धारण करते समय यह मंत्र पढ़ना चाहिए-

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्रयं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

(८) यज्ञोपवीत उतारते समय यह मंत्र पढ़ना चाहिए-

एतावद्दिन पर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया ।
जीर्णत्वात्त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथा सुखम् ॥

(९) जन्म सूतक, मरण सूतक, चाण्डाल स्पर्श, मुर्दे का स्पर्श, मल-मूत्र त्यागते समय कान पर यज्ञोपवीत चढ़ाने में भूल होने के प्रायश्चित में उपाकर्म से, चार मास पुराना हो जाने पर, कहीं से टूट जाने पर जनेऊ उतार देना चाहिए । उतारने पर उसे जहाँ-तहाँ नहीं फेंक देना चाहिए वरन्

किसी पवित्र स्थान पर-नदी, तालाब, देवस्थान, पीपल, गूलर, बड़, छोंकर जैसे पवित्र वृक्ष पर विसर्जित करना चाहिए ।

(१०) बाऐं कंधे पर इस प्रकार धारण करना चाहिए कि बाऐं पार्श्व की ओर न रहे । लम्बाई इतनी होनी चाहिए कि हाथ लम्बा करने पर उसकी लम्बाई बराबर बैठे ।

(११) ब्राह्मण पदाधिकारी बालक का उपवीत ५ से ८ वर्ष तक की आयु में, क्षत्रिय का ६ से ११ तक, वैश्य का ८ से १२ वर्ष तक की आयु में यज्ञोपवीत कर देना चाहिए । यदि ब्राह्मण का १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक, वैश्य का २४ वर्ष तक उपवीत न हो तो वह "सावित्री पतित" हो जाता है । तीन दिन उपवास करते हुए पंचगव्य पीने से सावित्री पतित मनुष्य प्रायश्चित करके शुद्ध होता है ।

(१२) ब्राह्मण का बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का उपवीत शरद ऋतु में होना चाहिए । पर जो "सावित्री पतित" है अर्थात् निर्धारित आयु से अधिक का हो गया है, उसका कभी भी उपवीत कर देना चाहिए ।

(१३) ब्रह्मचारी को एक तथा गृहस्थ को दो जनेऊ धारण करने चाहिए क्योंकि गृहस्थ पर अपना तथा धर्मपत्नी दोनों का उत्तरदायित्व होता है ।

(१४) यज्ञोपवीत की शुद्धि नित्य करनी चाहिए । नमक, क्षार, साबुन, रीठा आदि की सहायता से जल द्वारा उसे भली प्रकार रगड़ कर नित्य स्वच्छ करना चाहिए ताकि पसीना का स्पर्श होते रहने से जो नित्य ही मैल भरता रहता है, वह साफ होता रहे और दुर्गन्ध अथवा जुँऐं आदि जमने की संभावना न रहे ।

(१५) मल, मूत्र त्याग करते समय अथवा मैथुन काल में यज्ञोपवीत कमर से ऊपर रखना चाहिए । इसलिए उसे कान पर चढ़ा लिया जाता है । कान की जड़ को मल-मूत्र त्यागते समय डोरे से बाँध देने से बवासीर, भगंदर जैसे गुदा के रोग नहीं होते, ऐसा भी कहा जाता है ।

(१६) यज्ञोपवीत आदर्शवादी भारतीय संस्कृति की मूर्तिमान प्रतिमा है, इसमें भारी तत्व ज्ञान और मनुष्य को देवता बनाने वाला तत्वज्ञान भरा हुआ है इसलिए इसे धारण करने की परिपाटी का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए । चाहे लोग उस रहस्य को समझने तथा आचरण करने में समर्थ न हों तो भी इसलिए उसका धारण करना आवश्यक है कि बीज होगा तो अवसर मिलने पर उग भी आवेगा ।

न होने से कुछ होना अच्छा है ।

यज्ञोपवीत के संबंध में कई प्रकार के भ्रम जन साधारण में प्रचलित हैं, उनके संबंध में कुछ बातों का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है । कई व्यक्ति सोचते हैं कि यज्ञोपवीत हम से सधेगा नहीं, हम उसके नियमों का पालन नहीं कर सकेंगे, इसलिए हमें उसे धारण नहीं करना चाहिए । यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि मेरे मन में ईश्वर की भक्ति नहीं है, इसलिए मैं पूजा-पाठ न करूँगा । पूजा-पाठ करने का तात्पर्य ही भक्ति उत्पन्न करना है, यदि भक्ति पहले से ही होती तो पूजा-पाठ करने की आवश्यकता ही न रह जाती । यही बात जनेऊ के संबंध में है यदि धार्मिक नियमों का साधन अपने आप ही हो जाय तो उसके धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? चूँकि आमतौर से नियम नहीं सधते इसीलिए तो यज्ञोपवीत का प्रतिबंध लगाकर उन नियमों को साधने का प्रयत्न किया जाता है । जो लोग नियम नहीं साध पाते, उन्हीं के लिए सबसे अधिक आवश्यकता जनेऊ धारण करने की है । जो बीमार है, उसे ही तो दवा चाहिए यदि बीमार न होता तो दवा की आवश्यकता ही उसके लिए क्या थी ?

नियम क्यों साधने चाहिए इसके बारे में लोगों की बड़ी विचित्र मान्यताऐं हैं । कई आदमी यह समझते हैं कि भोजन संबंधी नियमों का पालन करना ही जनेऊ का नियम है, बिना स्नान किए, रास्ते का चला हुआ, रात का बासा हुआ, अपनी जाति के अलावा किसी का बना हुआ

भोजन न करना ही यज्ञोपवीत की साधना है । यह बड़ी अधूरी और भ्रमपूर्ण धारणा है । यज्ञोपवीत का मन्तव्य मानव-जीवन की सर्वांग पूर्ण उन्नति करना है, उन उन्नतियों में स्वास्थ्य की उन्नति भी एक है और उनके लिए अन्य नियमों का पालन करने के साथ-साथ भोजन संबंधी नियमों की सावधानी रखना भी उचित है । इस दृष्टि से जनेऊ धारी के लिए भोजन संबंधी नियमों का पालन करना ठीक है परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक द्विज जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के सभी नियमों को पूर्णतया पालन नहीं कर पाता फिर भी कंधे पर जनेऊ धारण किए रहता है फिर भोजन संबंधी त्रुटि रह जाय तो यह नहीं समझना चाहिए कि इस त्रुटि के कारण जनेऊ धारण करने का अधिकार ही छिन जाता है । यदि झूठ बोलने से, दुराचार की दृष्टि रखने से, बेईमानी करने से, आलस्य प्रमाद या व्यसनों में ग्रस्त रहने से जनेऊ नहीं टूटता तो केवल भोजन संबंधी नियमों में कभी-कभी थोड़ा सा अपवाद आ जाने से नियम टूट जायगा । यह सोचना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मल-मूत्र त्यागते समय कान पर चढ़ाने की बार-बार भूल हो जाती है इसलिए बार-बार नये जनेऊ बदलने की आवश्यकता पड़ती है, इस झंझट से बचने के लिए यही अच्छा है कि इसे पहना ही न जाय । यह विचार भी ठीक ऐसा ही है जैसा यह सोचना कि पाठ याद करने में बार-बार भूल हो जाती है इसलिए इस झंझट से बचने के लिए यही अच्छा है कि पढ़ाई-लिखाई बन्द कर दी जाय । क्या ऐसा निर्णय बुद्धिमत्ता पूर्ण होगा ? यदि नहीं तो फिर भूल के कारण यज्ञोपवीत त्यागने की बात सोचना ही कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ?

यह ठीक है कि मल-मूत्र त्याग में कान पर जनेऊ चढ़ाना आवश्यक है और इस नियम का कठोरता से पालन होना चाहिए पर यह भी ठीक है कि आरम्भ में इसकी आदत न पड़ जाने तक नौसिखियों को कुछ सुविधा भी मिलनी चाहिए जिससे कि उन्हें एक दिन में तीन-तीन बार जनेऊ बदलने के लिए विवश न होना पड़े । इसके लिए ऐसा किया

जा सकता है कि जनेऊ का एक फेरा गरदन में घुमा दिया जाय, ऐसा करने से वह कमर से ऊँचा आ जाता है । कान में चढ़ाने का प्रधान प्रयोजन यह है कि मल-मूत्र की अशुद्धता का यज्ञ सूत्र से स्पर्श न हो, जब जनेऊ कंठ में लपेट दिये जाने से कमर से ऊँचा उठ आता है तो उससे अशुद्धता का स्पर्श होने की आशंका नहीं रहती और यदि कभी कान में चढ़ाने की भूल भी हो जाय तो उसके बदलने की आवश्यकता नहीं होती । थोड़े दिनों में जब भली प्रकार आदत पड़ जाती है तो फिर कंठ में लपेटने की आवश्यकता नहीं रहती ।

छोटी आयु के बालकों के लिए, स्त्रियों के लिए तथा अन्य भुलक्कड़ व्यक्तियों के लिए तृतीयोश यज्ञोपवीत की व्यवस्था की जा सकती है । पूरे यज्ञोपवीत की अपेक्षा दो तिहाई छोटा अर्थात् एक तिहाई लंबाई का तीन लड़ वाला उपवीत केवल कण्ठ में धारण किया जा सकता है । इस प्रकार के उपवीत को आचार्यों ने "कण्ठी" शब्द से संबोधन किया है । छोटे बालकों का जब उपनयन होता था तब उन्हें दीक्षा के साथ कण्ठी पहना दी जाती थी । आज भी गुरु नाम धारी पंडितजी गले में कण्ठी पहनाकर और कान में मंत्र सुनाकर "गुरुदीक्षा" देते देखे जाते हैं ।

इस प्रकार के अविकसित व्यक्ति उपवीत की नित्य सफाई का भी पूरा ध्यान रखने में प्रायः भूल करते हैं, जिससे शरीर का पसीना उसमें रमता रहता है फलस्वरूप बदबू, गंदगी, मैल और रोग कीटाणु उसमें पलने लगते हैं । ऐसी स्थिति में यह सोचना पड़ता है कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे कण्ठ में पड़ी हुई उपवीती कण्ठी का शरीर से कम स्पर्श हो । इस निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या किसी और पवित्र वस्तु के दानों में कण्ठी के सूत्रों को पिरो दिया जाता है फलस्वरूप वे दाने ही शरीर का स्पर्श कर पाते हैं सूत्र अलग रहा आता है और पसीने का जमाव होने एवं शुद्धि में प्रमाद होने के खतरे से बचत हो जाती है इसीलिए दाने वाली कंठियाँ पहनने का रिवाज चलाया गया ।

आजकल नई फैशन से जेवरों का रिवाज कम होता जाता है फिर

भी गले में कण्ठी माला किसी न किसी रूप में स्त्री, पुरुष धारण करते हैं । गरीब स्त्रियाँ काँच के मनकों की कण्ठियाँ धारण करती हैं । इन आभूषणों के नाम हार, नैकलेस, जंजीर, माला आदि रखे गये हैं पर यह वास्तव में कंठियों के ही प्रकार हैं । चाहे स्त्रियों के पास कोई अन्य आभूषण हो चाहे न हों, परन्तु इतना निश्चित है कि कंठी को गरीब से गरीब स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य धारण करेंगी, इससे प्रकट है कि भारतीय नारियों ने अपने सहज धर्म प्रेम को किसी न किसी रूप में जीवित रखा है और उपवीत को किसी न किसी प्रकार धारण किया है ।

जो लोग उपवीत धारण करने के अधिकारी नहीं कहे जाते, जिन्हें कोई दीक्षा नहीं देता, वे भी गले में तीन लड़ों का बँटा हुआ डोरा डाले रहते हैं । ग्रामीण नवयुवक रंग-बिरंगे सूत के बँटे हुए गुच्छेदार डोरे को बड़ी शौक और शोभा की चीज समझकर गले में डालते हैं । मेले-ठेले और हाटों में डोरे का काम करने वाले पटवी लोग तरह-तरह के सुन्दर सूत के कलापूर्ण कंठे डोरे बनाकर बड़ी मात्रा में बेचते हैं । ब्रह्म गाँठ की जगह पर सुन्दर गुच्छा लगा रहता है । यह भी उपवीत का ही प्रतिनिधि सूत्र है ।

इस प्रकार उन स्त्री-पुरुषों ने भी यज्ञोपवीत को अपनी ग्रीवा से अब तक चिपटाये रखा है और छाती से लगाये रखा है जिन्हें लोगों ने उपवीत का अनाधिकारी घोषित किया है । अब समय आ गया है कि सब लोग उसे धारण करें । जो पूर्ण नियमानुसार उसे धारण कर सकते हैं, वे वैसा करें जो वैसा नहीं कर सकते वे कंठी के रूप में उसे धारण करें, जो जिस प्रकार कर सकते हों, वे उस प्रकार करें, पर करें अवश्य । उपवीत ऋषियों का ऋण है, यह मनुष्यता का, आदर्श जीवन की आकांक्षा का प्रतीक है, इसे हम सबको पूरी-पूरी दिलचस्पी के साथ आदरपूर्वक अपने गले लगाना चाहिए । जितनी साधना, जितना नियमपूर्वक आज बन पड़े, उतना आज करें, जितना न बन पड़े उतना धीरे-धीरे भविष्य में पूरा करने की प्रतिज्ञा करें । जो इस बीड़े को उठावेगा, उत्तरदायित्व को कंधे पर धारण करेगा, उसी साधना को प्रभु पूरा करते हैं । आप अपने ऊपर भारतीय

संस्कृति के इस प्रतीक को धारण कीजिए, प्रभु आपकी सहायता करेंगे । स्मरण रखिये-न होने से "कुछ होना" भी अच्छा होता है ।

पथ–प्रदर्शक की आवश्यकता

शिक्षा के दो भेद हैं-(१) जानकारी, (२) अन्तर्निर्माण । जानकारी प्राप्त करने का काम साधरण पुस्तकों, समाचार मत्रों, चित्रों आदि की सहायता से तथा श्रवण, भ्रमण, अनुभव, पर्यवेक्षण इत्यादि के आधार पर हो सकता है । स्कूली पढ़ाई से सांसारिक बहुत सी बातें मालूम हो जाती है । भूगोल, इतिहास, गणित, साहित्य, शिल्प, रसायन, संगीत, व्यापार, चिकित्सा, कानून, धर्म, दर्शन, कला-कौशल आदि शिक्षा के अनेक माध्यम मौजूद हैं । सरकारी तथा गैर सरकारी शिक्षण केन्द्रों में जाकर इन सब बातों की जानकारी तथा प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है । इन जानकारियों को प्राप्त करने वाला धन, पद तथा यश से सम्पन्न हो सकता है । शिक्षा का प्रथम भेद 'जानकारी' सुलभ है । उसके लाभ भी प्रत्यक्ष हैं इसलिए अधिकांश व्यक्ति इस दिशा में अपनी ज्ञान वृद्धि करते हैं और सुशिक्षित तथा विद्वान् कहलाते हैं ।

शिक्षा का दूसरा भेद है-अन्तःनिर्माण । इस विज्ञान द्वारा मनुष्य अपने आपे के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है । मैं क्या हूँ ? सूक्ष्म से स्थूल क्यों हुआ हूँ ? इस जीवन को किस प्रयोजन के लिए धारण किए हुए हूँ ? जीवन का लक्ष्य क्या है ? सर्वोत्तम स्वार्थ क्या है ? वर्तमान कार्यक्रम में कितना उचित, कितना अनुचित सम्मिलित किया हुआ है ? क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है ? इस प्रकार का दार्शनिक ज्ञान अन्तःनिर्माण विद्या का आवश्यक अंश है । इस जानकारी को प्राप्त कर लेने से मनुष्य अपने मानसिक जगत की रचना से परिचित हो जाता है । मन की दौड़, कल्पनाओं की उड़ान, वासनाओं की लालसा, प्रलोभनों का आकर्षण, इन्द्रियों की रसिकता, व्यसनों की मादकता, आलस्य, प्रमाद और अज्ञान का अन्धकार, कर्मनिष्ठा से जीवन में सुख-शांति की स्थिरता, संयम,

अपरिग्रहता और उदारता की विभूतियाँ जैसे रहस्यों का परिशीलन करने से वह उन गुप्त तथ्यों से परिचित हो जाता हैं जिनके ऊपर यह बात पूर्णतया निर्भर है कि हम गरीब होते हुए भी सुखी रहें अथवा अमीर होते हुए भी दीन-दरिद्रियों की भाँति नाना प्रकार के क्लेशों से संतप्त रहें ।

सांसारिक जानकारी और अन्तःनिर्माण विद्या दोनों ही अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । साथ ही असाधारण रूप से आपस में सम्बद्ध हैं । जैसे गाड़ी के दो पहिये होते हैं, वैसे ही शिक्षा के दो अंश हैं । दो हाथ, दो पाँव, दो नेत्र, रात-दिन, सूर्य-चन्द्र, जल-थल, नर-मादा, सर्दी-गर्मी का जिस प्रकार जोड़ा है, उसी प्रकार शिक्षा का भी जोड़ा है । जो व्यक्ति सांसारिक एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं का समुचित ज्ञान रखता है और साथ ही अपनी आंतरिक वस्तुस्थिति से परिचित है और तदनुसार अपनी मनोवृत्तियों को काबू में रखकर उन्हें उचित दिशा में मोड़ने की क्षमता रखता है वही सच्चे अर्थों में शिक्षित कहलाने योग्य है । जैसे रुपये के दो पहलू होते हैं, उसी प्रकार शिक्षा के भी दो भाग हैं । यदि रुपये के एक ओर तो अक्षर छपे हैं और दूसरी ओर सफाचट हो तो उस रुपये की उपयोगिता सिद्ध न होगी, इसी प्रकार यदि केवल सांसारिक चतुरता ही किसी व्यक्ति ने सीखी हो और आत्म विज्ञान से अपरिचित हो तो उसकी विद्या अधूरी है । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अध्यात्म विज्ञान का ज्ञाता हो और रोटी कमाने तथा शऊर के साथ जिन्दगी बिताने का तरीका न जानता हो तो उसका ज्ञान अधूरा है । ताँबे और जस्ते के तारों में चलने वाली गरम और ठण्डी विद्युत धाराऐं जहाँ मिलती हैं वहीं बिजली का चमत्कारिक कर्म होता है, एक तार में चलने वाली एकांगी विद्युत धारा चाहे कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो अपनी क्षमता प्रकट नहीं कर सकती इसी प्रकार इन दोनों में से यदि केवल एक ही ज्ञान किसी को है तो वह अधूरा विद्वान् है, वह एक पहिए की गाड़ी पर बैठकर जीवन यात्रा करने का प्रयास कर रहा है ।

प्राचीन-काल में बालकों को उभयपक्षी विद्या पढ़ाई जाती थी, वे

जानते थे कि एक पंख वाला पक्षी लम्बी उड़ान नहीं भर सकता, जीवन के के महान् उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकता इसलिए वे जहाँ साहित्य, शिल्प, विज्ञान, व्यापार, कला-कौशल आदि की सांसारिक शिक्षा का आयोजन करते थे, वहाँ अन्तःकरण का विकास करने वाले मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने वाले आत्म-निर्माण विज्ञान की शिक्षा का भी आयोजन करते थे । गुरुकुलों में दोनों ही प्रकार की शिक्षण योजनाऐं चलती थीं, वेद और उपनिषदों से लेकर धनुर्वेद, अर्थशास्त्र और कामसूत्र तक के आयोजन रहते थे । पर आज की गतिविधि बड़ी विचित्र हो गई है, संतुलन ठीक रखने का विचार छोड़कर एकांगी विकास करने की नीति पर लोग चल रहे हैं फलस्वरूप इतना अधिक श्रम करने पर भी वैसा संतोषजनक परिणाम नहीं निकल रहा है जैसा कि इससे आधे चौथाई परिश्रम से ही संतुलित नीति का आचरण करने पर निकल सकता था । आज तो जिनकी रुचि सांसारिकता की ओर है वे आत्म विद्या से या तो मिथ्या समझकर घृणा करते हैं या अनुपयोगी समझकर उपेक्षा करते हैं । दूसरी ओर जिनकी रुचि आत्म-विद्या की ओर है, वे व्यावहारिक ज्ञान को माया, बंधन, स्वप्न, जंजाल आदि कहकर उससे दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं । भगवान् कृष्ण ने अपना उदाहरण उपस्थित करके इस द्विविधा को मिटाया था । उनके जीवन, विचार और कार्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाला इस बात को भली प्रकार समझ सकता है कि एक व्यक्ति पूर्ण योगी और पूर्ण व्यवहार कुशल साथ-साथ हो सकता है । भगवान् कृष्ण के अवतार लेने के जहाँ अन्य कारण थे, वहाँ यह भी एक कारण था कि वे व्यवहारवाद और आत्मवाद का विरोधाभास मिटाकर समन्वय करने आये थे, अपना उदाहरण उपस्थित करके उन्होंने बताया कि योग और कर्म के समन्वय को ही सर्वश्रेष्ठ जीवन प्रणाली कहा जा सकता है ।

मनुष्य की प्रकृति स्वभावतः सांसारिक लाभों की ओर होती है इसलिए साधारणतः उसकी रुचि सांसारिक शिक्षा प्राप्त करने की होती है । इसी के लिए वह गुरु और शिक्षक चुनता है । आत्म-विद्या से चाहे

वस्तुतः अनन्त एवं महानतम् लाभ भले ही प्राप्त होते हों पर प्रत्यक्षतः हाथों-हाथ कोई लाभ नहीं दीखता, इसलिए भारतीय धर्म के आचार्यों ने यह आवश्यक समझा कि इस दिशा में कठोर नियंत्रण रखा जाय । उन्होंने आदेश दिया कि आत्म-विद्या का शिक्षक अवश्य ही नियुक्त होना चाहिए जो गुरु या आचार्य के नाम से पुकारा जाय, माता-पिता के साथ ही गुरु का नाम जोड़ा गया है । जैसे किसी के पिता का पता न होना एक बड़े भारी अपमान की बात है वैसे ही भारतीय संस्कृति में यह भी एक भारी अपमान जनक गाली है कि किसी को बिना गुरु का "निगुरा" कहा जाय । गुरु दीक्षा की अनिवार्यता वैसी ही है जैसी यज्ञोपवीत धारण की । इसलिए इन दोनों को एक साथ जोड़ दिया गया है । जो यज्ञोपवीत देने वाला वही गुरु अथवा जो गुरु हो वही यज्ञोपवीत दे । चूँकि यज्ञोपवीत के छोटे से प्रतीक में समस्त अध्यात्म-ज्ञान, वेद शास्त्रों का सारांश भरा हुआ है इसलिए जो यज्ञोपवीत देता है वह उसमें छिपे हुए महाविज्ञान को भी बताता है इसलिए अध्यात्म की शिक्षा उपवीत संस्कार के साथ आरंभ होती है । कंधे पर पड़ा हुआ जनेऊ इस गुरु की दी हुई 'वेदत्रयी' है, इसको चौबीसों घण्टे साथ रखा जाता है और हर घड़ी पढ़ने, मनन एवं चिंतन करने की सुविधा शिष्य को प्राप्त होती है ।

आत्म निर्माण का कार्य किसी विद्वान्, सूक्ष्मदर्शी, तत्वज्ञानी, नीतिमान, सच्चरित्र एवं दूरदर्शी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है । ऐसे गुण वाले को शास्त्रों में "आचार्य" शब्द से संबोधित किया गया है । यों पुस्तकों और ग्रन्थों में बहुत से उपदेश भरे हुए हैं, कथा, व्याख्यान, सत्संग, प्रवचन आदि द्वारा भी ऐसी बातें अक्सर सुनने को मिलती रहती हैं, पर इन सबके द्वारा इतना ठोस प्रभाव नहीं पड़ सकता जिससे जीवन दिशा में भारी परिवर्तन हो जाय । यह कार्य उन दो व्यक्तियों द्वारा हो सकता है जो आपस में अत्यन्त घनिष्ट-सूत्र में आत्मीयता के बन्धन में बँधे हों और वह बंधन श्रद्धा, प्रेम, निस्वार्थता एवं परमार्थ के आधार पर अवलंबित हो । ऐसा रिश्ता एक मात्र गुरु शिष्य के बीच में ही हो सकता है । यों पत्नी, संतान

(यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ,

तथा मित्रों में भी लोगों की घनिष्टता रहती है, पर वह घनिष्टता ऐसी नहीं होती जिसका आधार सांसारिक स्वार्थपरता से अधिक ऊँचा हो, इसलिए आत्म-निर्माण का कष्ट साध्य कठिन कार्य उपरोक्त गुण वाले आचार्य द्वारा ही हो सकता है ।

आचार्य अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण अपनी वाणी में इतना बल, वजन, तर्क, तथ्य, प्रमाण और प्रभाव रखता है जिससे शिष्य का अन्तः करण उसके आगे प्रभावित हो जाय । दूसरी ओर शिष्य के मन में आचार्य के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आस्था, विश्वास, भावना, धर्म-भीरुता होती है, जिससे उसका मन एक प्रकार से इतना नरम हो जाता है जिस पर उसकी छाप आसानी से पड़ सके । जब दोनों ओर से इस प्रकार झड़ मिल जाती है तो निश्चित उद्देश्य में प्रगति होने लगती है । पुर्जों की झड़ जब तक आपस में नहीं मिलती तब तक मशीन ठीक प्रकार नहीं चलती, पर जब खाँचा ठीक फिट बैठ जाता है तो मशीन की गति बड़ी तेज और नरम हो जाती है । गुरु-शिष्य का रिश्ता कायम होना, दो ऐसे व्यक्तियों की झड़ मिलना है, जिनके आन्तरिक मिलन से 'आत्म-निर्माण' कार्य की प्रगति तेजी से आगे बढ़ने लगती है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य की नियुक्ति के और भी कई लाभ हैं । मनुष्य अपने संबंध में ठीक प्रकार सोचने में प्रायः असमर्थ रहता है । वैद्य अपना इलाज आप नहीं कर सकता, क्योंकि अपने बारे में ठीक-ठीक निर्णय करने में उसकी बुद्धि समर्थ नहीं होती । आँखें अपने आप अपने को नहीं देख सकतीं । साधारणतः मनुष्य भी अपने गुण-दोषों का निर्णायक आप नहीं बन पाता, फिर अपने लिए आत्मोन्नति के लिए कार्यक्रम बनाना तो और भी कठिन होता है । लोभ और भोग में विशेष रुचि, आध्यात्म-पथ की रूक्षता, साधना की कठिनाई, संशय, अविश्वास, अनुभव हीनता के कारण अपने लायक कार्यक्रम चुनने में असमर्थता आदि कठिनाइयों के कारण इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि कोई अनुभवी, ईमानदार, विवेकशील एवं सहृदय पथ-प्रदर्शक स्थायी रूप

से अपनी यह जिम्मेदारी अनुभव करे कि मुझे इस व्यक्ति की उन्नति के लिए निरन्तर कार्य करना है और इसकी सफलता-असफलता में अपनी योग्यता का प्रतिपादन करना है । इस प्रकार का रिश्ता गुरु-शिष्य का ही रिश्ता हो सकता है ।

आत्म-विस्तार की भी दो दिशाएँ हैं । वासना परक आत्म-विस्तार पुरुष का स्त्री में और स्त्री का पुरुष में होता है । दोनों एक दूसरे के साथ अत्यन्त आत्मीयता से तन्मय हो जाते हैं परन्तु इस आत्म-विस्तार में एक कमी रह जाती है, वह यह कि 'वासना और सुविधा' यह दो उद्देश्य दाम्पत्य जीवन में प्रधान रहते हैं । यदि यह दोनों न रहें तो अधिकांश दम्पत्तियों का प्रेम नीचे गिर पड़ेगा । ऐसे कितने स्त्री पुरुष हैं जो अपने साथी से काम सेवन का तनिक भी सहयोग न पाने पर भी उससे उतनी ही तन्मयता रखें अथवा उससे परिश्रम, सेवा, मनोरंजन न पाने पर भी वैसा ही प्रेम रखें ? इससे प्रतीत होता है कि दाम्पत्य प्रेम में कितनी ही तन्मयता एवं मादकता क्यों न हो पर वह कुछ अपवादों को छोड़कर वासना और स्वार्थपरता पर रुका रहता है । इसलिए किसी ऐसे विवाह की भी आवश्यकता पड़ती है जो इन दोनों तुच्छ कारणों से मुक्त हो और धार्मिक श्रद्धा एवं सात्विक प्रेम से सुसज्जित हो । यों ऐसा प्रेम दाम्पत्ति जीवन में भी एक दूसरे के प्रति होना सम्भव है पर उसमें परीक्षा की कसौटी न रहने से यह खतरा बना रहता है कि कहीं वासनाजन्य भौतिक तन्मयता को ही आत्मिक मिलन न समझ बैठा जाय । गुरु-शिष्य के बीच जो संबंध कायम होता है, वह इस प्रकार के खतरे से खाली है । इन दोनों के बीच जितना प्रेम बढ़ेगा, उसका आधार सात्विक ही होगा । यह सात्विक प्रेम ही ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है । वासनाजान्य प्रेम अस्थायी और निचले दर्जे का होता है, उसके द्वारा ईश्वर तक पहुँचने की सिद्धि नहीं मिल सकती । परम सात्विक, श्रद्धा, भक्ति, निस्वार्थता और धर्म भावना से परिपूर्ण प्रेम द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त किया जाता है । प्रभु प्राप्ति के अमोध सत्य को उपलब्ध करने का अभ्यास गुरु-भक्ति द्वारा किया जाता है ।

छोटे तालाब में तैरना सीख कर तब बड़े नदी नद पार करना संभव होता है । गुरु के ऊपर सात्विक प्रेम का अभ्यास बढ़ाकर तब उस बढ़ी हुई भक्ति से ईश्वर को प्राप्त किया जाता है ।

गुरु दीक्षा एक प्रकार का आध्यात्मिक विवाह है, जिसमें दो व्यक्ति एक पवित्र उत्तरदायित्व को ओढ़ते हैं । गुरु अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेता है कि शिरू की आत्मा को ऊँचा उठाने में कोई कसर न रखूँगा । शिष्य अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेता है कि गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखता हुआ उनसे प्रकाश प्राप्त करूँगा । विवाह और दीक्षा में यद्यपि भौतिक दृष्टि से बहुत अन्तर है पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें विशेष अन्तर नहीं है । दो आत्माऐं जीवन भर के लिए पूरी ईमानदारी से एक दूसरे की उन्नति और सहायता का व्रत लेती हैं यही दीक्षा कहलाती है । पति-पत्नी के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बन्धन को 'विवाह' और गुरु-शिरू के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बन्धन को 'दीक्षा' और मित्र-मित्र के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बन्धन को 'मैत्री' या 'पगड़ी पकड़ना' कहते हैं । इस प्रकार के व्रत बन्ध के पश्चात् अधिक जिम्मेदारी से कर्तव्य पालन के भाव दृढ़ होते हैं । शास्त्रों में कहा गया है कि शिष्य के पाप-पुण्यों का दसवाँ भाग गुरु को भी मिलता है । कारण स्पष्ट है कि शिष्य के निर्माण में गुरु का भारी उत्तरदायित्व होने के कारण उसके पाप-पुण्यों में उसे भागीदार बना देता है । यही बात पति-पत्नी और मित्र-मित्र में भी होती है । सम्मिलित उत्तरदायित्व के कारण एक की कीर्ति-अपकीर्ति में दूसरा स्वयमेव भागीदार हो जाता है ।

मनुष्य के मन में अनेक गुप्त बातें रहती हैं । परन्तु उसके मन और चित्त की बनावट इस प्रकार की है कि जितनी ही अधिक गुप्त बातें उसके भीतर जमा होती जाती हैं, उतना ही उसका मानस-लोक दूषित होता जाता है । एक हर में ऐसी शक्ति नहीं कि वह गुप्त बातों को बहुत समय तक अपने भीतर भरे रहने पर भी स्वस्थ बना रहे । आँख में कूड़े-करकट का एक छोटा टुकड़ा पड़ जाय तो आँख अस्वस्थ हो जाती है । पेट में कोई धातु का टुकड़ा या विष पहुँच जाय तो जब तक वह निकल नहीं जाय तब

तक चैन नहीं लेने देता, इसी प्रकार गुप्त बातें मन में भरे रहने वाले कपटी या पेट के मैले कहलाते हैं । देखा गया है कि उनका शरीर और मन इस मैल के कारण अशान्त और विकार ग्रस्त बना रहता है । इस विषमस्थिति से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि हमें ऐसा कोई रहस्य पेट में न छिपाये रहें जो किसी पर प्रकट न हो । परन्तु अपने भेदों को सब पर प्रकट करना एक खतरा है जिसे उठाने का हर किसी को साहस नहीं होता । लोगों से अक्सर दुष्कर्म होते रहते हैं । चोरी, व्यभिचार, पाखण्ड, शेखीखोरी, छल, विश्वासघात आदि के अनेक बुरे काम लोग आये दिन किया करते हैं, जिनको यदि प्रकट कर दिया जाय तो उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होती है, निन्दा का भागी बनना पड़ता है, समाज से बहिष्कृत होना पड़ता है, राजदण्ड भोगना पड़ता है, आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है और ग्राहकों, साथियों तथा सहयोगियों के सहयोग से हाथ धोना पड़ता है । यदि किसी खास आदमी से वे बातें कह कर अपना मन हलका किया जाय तो भी यह भय लगा करता है कि कभी वह दूसरों पर प्रकट न कर दे अथवा स्वयं ही घृणा न करने लगे । इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कई बातें घनिष्ट मित्रों से भी नहीं कही जातीं और खासतौर से वे बातें प्रकट की ही नहीं जा सकतीं जो उन मित्रों के विरुद्ध पड़ती हों या उन्हें रुष्ट करती हों । यह रहस्यवाद जितना ही पेट में पड़ा सड़ता रहता है, उतना ही मानस भूमि को दूषित करता रहता है और उसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और भौतिक रोग बढ़ते रहते हैं ।

इस विषम स्थिति से बचने के लिए गुरु की नियुक्ति बड़ी ही लाभदायक है । गुरु अत्यन्त उदार, सहनशील, क्षमावान और शिष्य की निर्बल मनोभूमि का ज्ञाता होता है, इसलिए वह उसके दोषों को सहानुभूतिपूर्वक सुनता है, उसका निदान करता है और सह्य चिकित्सा चालू कर देता है । चूँकि वह सच्चा हितू है इसलिए शिष्य की सामाजिक स्थिति न बिगड़े इसके लिए उन बातों को असमय में प्रकाशन करना आवश्यक नहीं समझता । ऐसी दशा में शिष्य अपने मन में अटकी पड़ी

सभी रहस्य-ग्रन्थियों को खोलकर रख सकता है और मन के भार से हलका होकर अनेक प्रकार की अस्वस्थताओं से छुटकारा पा सकता है ।

इस प्रकार के अनेक कारण हैं जिनसे गुरु की नियुक्ति आवश्यक अनुभव करके हमारे ऋषियों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए माता-पिता के समान ही गुरु की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है । पर आज तो बड़े भद्दे और सड़े-गले रूप में इस परम्परा को पूरा किया जा रहा है । नाम मात्र के पढ़े हुए, अन्धविश्वासी, अविवेकी, मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ, धर्म मन्तव्यों के सूक्ष्म तत्वज्ञान से अपरिचित ऐसे व्यक्ति गुरु बनने का दुस्साहस करते हैं । जिनमें लोभ, अहंकार, व्यसन, आलस्य, प्रमाद, स्वार्थपरता की भावनाऐं कूट-कूट कर भरी हैं, जो न लोक सेवा में रुचि रखते हैं और न जिनमें दूसरों के आत्म निर्माण करने की क्षमता है, वे भोले-भाले लोगों की धर्मश्रद्धा का, गुरु-परम्परा के मूल्य का अनुचित लाभ उठाकर अपने लिए एक प्रकार का खेत तैयार करते हैं जिनसे सदा ही कुछ बसूल करते रहा जाय । यजमान उनकी खेती हैं, जिन्हें फसल की फसल दुहते रहते हैं । चेले भी ऐसे ही है, वे किसी भी ओंधे-सीधे आदमी से कंठी बँधवा कर, कान फुँकवा कर अपनी गुरु श्रद्धा को पूरा करते हैं । ऐसे गुरु शिष्य व्यर्थ ही एक लकीर को पीटते हैं, इसमें उन्हें कुछ लाभ होने वाला नहीं है ।

सुविज्ञ, चरित्रवान् और आत्म-शक्ति से परिपूर्ण पथ-प्रदर्शक का प्राप्त होना एक सौभाग्य है । ऐसा सौभाग्य जिन्हें प्राप्त है, वे आत्मोन्नति का लम्बा और कष्ट साध्य मार्ग अल्प समय में और अल्प श्रम में पूरा कर लेते हैं । कारण यह है कि उनकी वाणी, बुद्धि और शिक्षा-प्रणाली से जितना लाभ होता है, उससे अनेक गुना लाभ उनके आत्म-तेज से होता है । अपनी शक्तियों की किरणें वे शिष्य के अन्तःकरण में प्रवेश करके अपने ज्ञान चक्षुओं को प्रकाशित कर देते हैं । डाक्टर लोग ऐसा करते हैं कि कोई रोगी जब रक्त हीनता के कारण बहुत निर्बल हो जाता है तो उसके शरीर में किसी बलवान स्वस्थ आदमी का खून डालते हैं । इस नये खून को पाकर

रोगी में नई शक्ति लौट आती है और वह खतरे से बाहर हो जाता है । आत्म तेजवान् गुरु भी ऐसा ही करते हैं वे अपनी कठिन तपश्चर्या द्वारा संचित आत्म-शक्ति को अपने शिष्य के शरीर और मस्तिष्क में प्रेरित करते हैं, फलस्वरूप वह निर्बल आत्मा अपने में शक्ति सम्पन्नता का अनुभव करने लगता है । हमें अनेक ऐसे प्रसंग मालूम हैं, जिनमें सद्गरुओं ने 'शक्तिपात' करके शिष्यों की सुप्त आत्मिक चेतना को जागृत किया है । कुछ घटनाऐं हमें ऐसी स्मरण हैं जिनमें गुरु की शक्ति ने शिष्य के शरीर में इस प्रकार प्रवेश किया मानों बिजली की धारा उनके शरीर में कोंध गई हो, वे घबरा गये, डर गये और अर्द्ध मूर्छित से हो गये । कारण यह था कि जितनी शक्ति वे सहन कर सकते थे उससे कहीं अधिक मानवीय विद्युत उनके शरीर में प्रवेश कर गई । अनुभवी पथ-प्रदर्शक इसका ध्यान रखते हैं और अपना तेज शिष्य के शरीर में उसी अनुपात से प्रवेश होने देते हैं जितना वह सहन कर सके ।

यज्ञोपवीत से द्विजत्व की प्राप्ति की विवेचना करते हुए बताया जा चुका है कि पहला जन्म माता के पेट से होता है और दूसरा जन्म आचार्य द्वारा दिया जाता है । आचार्य अपने शिष्य की मनोभूमि को साफ करता है, उसमें बीज बोता है, संस्कारों को स्थापित करता है, उन्हें सींचता है, सुधारता है, रखवाली करता है और इन प्रयत्नों द्वारा शिष्य को कुछ से कुछ देता है । पहले की जंगली भूमि, कुछ दिन बाद सुरम्य उपवन बन जाती है । वैसे वह एक ही वस्तु है, पर पहले और पीछे के रूपों भारी अन्तर हो जाने के कारण इसे 'कायाकल्प' या दूसरा जन्म भी कहा जा सकता है । असंस्कृत, जन्म-जन्मान्तरों के पाशविक संस्कारों से युक्त मनोभूमि का दैवी सम्पत्तियों से सुसज्जित हो जाना भी मानसिक कायाकल्प है, इसे दूसरा जन्म कह सकते हैं । यही द्विजत्व है । माता के स्तनों से दूध पीकर बालक का शरीर बढ़ता है, आचार्य की आत्मा का रस पीकर शिष्य क़ा अन्त:करण विकसित होता है । चिड़िया अपने अण्डे को अपनी छाती के नीचे रखकर 'सेती' हैं । उसे अपनी गर्मी से पकाती हैं और अण्डे से

बच्चा निकालती हैं । आचार्य भी अपने शिष्य को आत्म तेज की गर्मी से उष्णता प्रदान करता है, उस पर छाती देकर बैठता है और अन्त में पशुता का अण्डा खोलकर, फोड़कर, उसमें से सच्चा मनुष्य निकालता है । इस प्रकार आचार्यों द्वारा जन्म दिए हुए मनुष्य को द्विज कहते हैं । जन्म से सभी शूद्र होते हैं पर संस्कार से द्विज बन जाते हैं ।

प्राचीन काल में गुरु की नियुक्ति को ऐसा ही आवश्यक समझा जाता था जैसा कि विवाह । अच्छी पत्नी पाकर जैसे युवक को और अच्छा पति पाकर जैसे युवती को प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता अच्छा गुरु पाकर शिष्य को भी होती है । कारण यह है कि गुरु भी वैसा ही साथी है जैसा कि स्त्री-पुरुष आपस में होते हैं । एक जोड़ा सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्व रखता है तो दूसरा जोड़ा आत्म विकास के लिए अनिवार्य है । पर आज तो सर्वत्र ही अव्यवस्था और अन्धकार छाया हुआ है जैसे दम्पत्ति सहवास के आनन्द के अनेक नकली, झूठे, हानिकारक एवं अनैतिक उपकरण प्राप्त होते हैं, व्यभिचार को पद्धतियाँ प्रचलित हैं वैसे ही गुरु-शिष्य के पवित्र संबंधों में भी धूर्तता, मूर्खता, अनैतिकता और अविवेक का साम्राज्य छाया हुआ है । किसी समय गरीबों से लेकर अमीरों तक और प्रजा जनों से लेकर राजकुमारों तक ऋषियों के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे और अपने-अपने क्षेत्र के उपयुक्त योग्यताऐं लेकर वापिस लौटते थे । पर आज तो साधु-संन्यासी, पंडित-पुरोहित, गुरु, महात्मा आदि जन्तुओं को देखने से ही लोगों के मनों में भय पैदा होता है क्योंकि उनकी विचारधारा, भावना तथा क्रिया प्रणाली तीनों ही ऐसी होती हैं जिनके सम्पर्क में आने वाले को हानि उठानी पड़ती है । लोग अपने बच्चों को उनके पास नहीं जाने देते कि हमारा लड़का इन लोगों की संगति में बैठकर कहीं निकम्मा, निठल्ला गैर जिम्मेदार, भिकारी, व्यसनी, आलसी, प्रमादी, आवारा न बन जाय । उनका भय अकारण नहीं है, अनेक उदाहरणों के आधार पर उन्हें इस प्रकार की मान्यता बनाने को विवश होना पड़ा है ।

आज प्रामाणिक विश्वस्त, विवेकशील और क्रिया-कुशल ऐसे पथ-

प्रदर्शकों का बड़ा अभाव है जो जन-साधारण को आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करके उन्हें सब प्रकार सुख-शांति का जीवन व्यतीत करने में सहायता दें । ऐसे प्रकाशवान् आचार्यों की सचमुच ही भारी कमी है जो अपनी आन्तरिक ज्योति से दूसरों की अन्तरात्मा को प्रकाशित कर दें, फिर भी खोज करने से अभीष्ट वस्तु मिल ही जाती है । ईश्वर की इस वैभवशाली सृष्टि में किसी वस्तु का बीज नाश नहीं होता । परमात्मा ने एक स्थान पर प्रतिज्ञा की है कि "सच्चे खोजी को निराश न होना पड़ेगा ।"

कितने ही व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि हम अमुक समय एक व्यक्ति को गुरु बना चुके, अब हमें दूसरे पथ-प्रदर्शक की नियुक्ति करने का अधिकार नहीं रहा । उनका यह सोचना वैसा ही है जैसे कोई विद्यार्थी यह कहे कि अक्षर प्रारम्भ करते समय जिस अध्यापक को मैंने अध्यापक माना था अब जीवन भर उसके अतिरिक्त न तो किसी से शिक्षा ग्रहण करूँगा और न किसी को अध्यापक मानूँगा । एक ही अध्यापक से संसार के सभी विषयों के जान लेने की आशा नहीं की जा सकती । फिर वह अध्यापक मर जाय, रोगी हो जाय, कहीं चला जाय तो भी उसी से शिक्षा लेने का आग्रह करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? फिर ऐसा भी हो सकता है कोई शिष्य प्राथमिक गुरु की अपेक्षा कहीं अधिक जानकार हो जाय और उसका जिज्ञासा क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाय । ऐसी दशा में भी उसकी जिज्ञासाओं का समाधान उस प्राथमिक शिक्षक द्वारा ही कराने का आग्रह किया जाय तो यह किस प्रकार संभव है ? प्राचीन काल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस उलझन का समाधान हो जाता है। महर्षि दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु वरण किये थे, राम और लक्ष्मण ने जहाँ वशिष्ठ से शिक्षा पाई थी, वहाँ विश्वामित्र से भी बहुत कुछ सीखा था, दोनों ही उनके गुरु थे । श्रीकृष्ण जी ने संदीपन ऋषि से विद्याऐं पढ़ीं पर महर्षि दुर्वासा भी उनके गुरु थे । अर्जुन के गुरु द्रोणाचार्य भी थे और कृष्ण भी । इन्द्र के गुरु वृहस्पति भी थे और नारद भी । इस प्रकार अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आवश्यकतानुसार एक गुरु अनेक शिष्यों की सेवा कर सकता है और एक

शिष्य अनेक गुरुओं से ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इसमें कोई ऐसा सीमाबन्धन नहीं है जिसके कारण एक के उपरान्त किसी दूसरे से प्रकाश प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध हो । अब भी एक व्यक्ति के कई पुरोहित होते हैं । ग्राम्य पुरोहित, तीर्थ पुरोहित, कुल पुरोहित, राष्ट्र पुरोहित, शिक्षा पुरोहित, दीक्षा पुरोहित । जिससे यज्ञोपवीत लिया है, जीवन विद्या सीखी है, आत्म निर्माण के लिए प्रकाश प्राप्त किया है, वह ब्रह्म पुरोहित है । यह सभी पुरोहित अपने-अपने क्षेत्र, अवसर और कार्य में पूछने योग्य, पूजने योग्य हैं । यह सब सब दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक होते हैं ।

यज्ञोपवीत धारण करने वालो ! इस महान् अनुष्ठान में शायद अकेले ही सब कुछ कर लेना तुम्हारे लिए कठिन हो सकता है । इसलिए पथ प्रदर्शक नियुक्त करो । ऐसा पथ प्रदर्शक जो अपने महान् पद के अनुकूल योग्यताऐं रखता हो और तुम्हारे जीवन निर्माण में समुचित सहायता दे सके । यह नियुक्ति तुम्हारा आधा भार हलका कर देगी । आज ऐसे पथ-प्रदर्शक मिलना कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं, निकट नहीं तो दूर, ढूँढ़ो ! ढूँढ़ने वाले को अभीष्ट वस्तु मिल जाती है ।

उपवीत और गायत्री का युग्म

यज्ञोपवीत को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है । सूत्र डोरे को भी कहते हैं और उस संक्षिप्त शब्द रचना को भी जिसका अर्थ बहुत विस्तृत होता है । व्याकरण, दर्शन, धर्म, कर्मकाण्ड आदि के अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिसमें ग्रन्थ कर्ताओं ने अपने मन्तव्यों को बहुत ही संक्षिप्त संस्कृत वाक्यों में सन्निहित कर दिया है । उन सूत्रों पर लम्बी-लम्बी वृत्तियाँ, टिप्पणियाँ तथा टीकाऐं हुई हैं, जिनके द्वारा उन सूत्रों में छिपे हुए अर्थों का विस्तार होता है । ब्रह्मसूत्र में यद्यपि अक्षर नहीं है तो भी संकेतों से बहुत कुछ बताया गया है । मूर्तियाँ, चिह्न, चित्र, अवशेष आदि के आधार पर बड़ी बड़ी महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं । यद्यपि इनमें अक्षर नहीं होते तो भी वे बहुत कुछ प्रकट करने में समर्थ हैं । इशारा करने से एक मनुष्य अपने

मनोभाव दूसरे पर प्रकट कर देता है । भले ही उस इशारे में किसी शब्द का या लिपि का प्रयोग नहीं किया जाता । यज्ञोपवीत के ब्रह्मसूत्र यद्यपि वाणी और लिपि से रहित हैं तो भी उनमें एक विशद् व्याख्यान की अभिभावना भरी हुई है ।

गायत्री को गुरु मंत्र कहा जाता है । यज्ञोपवीत धारण करते समय जो वेदारम्भ कराया जाता है, वह गायत्री से कराया जाता है । प्रत्येक द्विज को गायत्री जानना उसी प्रकार अनिवार्य है जैसे कि यज्ञोपवीत धारण करना । यह गायत्री यज्ञोपवीत का जोड़ा ऐसा ही है जैसा लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधे-श्याम, प्रकृति-ब्रह्म, गौरी-शंकर, नर-मादा का जोड़ा है । दोनों के सम्मिश्रण से ही एक पूर्ण इकाई बनती है । जैसे स्त्री-पुरुष की सम्मिलित व्यवस्था का नाम ही गृहस्थ है, वैसे ही गायत्री उपवीत का सम्मिलन ही द्विजत्व है । उपवीत सूत्र है तो गायत्री उसकी व्याख्या है । दोनों की आत्मा एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई है ।

उपवीत में तीन तार हैं, गायत्री में तीन चरण है । 'तत्सवितुर्वरेण्यं' प्रथम चरण, 'भर्गो देवस्य धीमहि' द्वितीय चरण और ' धियो यो नः प्रचोदयात्' तृतीय चरण है । तीन तारों का तात्पर्य है, इनमें क्या संदेश निहित है यह बात समझनी हो तो गायत्री के इन तीन चरणों को भली प्रकार जान लेना चाहिए ।

उपवीत में तीन प्रथम ग्रन्थियाँ और एक ब्रह्म ग्रन्थि होती है । गायत्री में तीन व्याहृतियाँ (भूः भुवः स्वः) और एक प्रणव (ॐ) है । गायत्री के प्रारम्भ में ॐकार और भूः भुवः स्वः का जो तात्पर्य है, उसी की ओर यज्ञोपवीत की तीन ग्रन्थियाँ संकेत करती हैं । उनहें समझने वाला जान सकता है कि यह चार गाँठें मनुष्य जाति के लिए क्या-क्या संदेश देती हैं ।

यज्ञोपवीत के ब्रह्म-ज्ञान को गायत्री द्वारा समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि गायत्री के सब शब्दों का अर्थ और भावार्थ भली प्रकार समझ लिया जाय । उसको समझ लेने के उपरान्त इस शिक्षा के सारांश को हृदयंगम कर लेने में सुविधा होगी ।

प्रचोदयात्
योनः
धियो
धीमहि
देवस्य
भर्गो
स्वः
भुवः
भूः
ॐ
तत्
सवितुः
वरेण्यं

गायत्री मंत्र यह है-

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

नीचे गायत्री के प्रत्येक पद का अर्थ दिया जाता है । इस १३ श्लोकों की परिभाषा को गायत्री गीता भी कहते हैं । अब गायत्री गीता और उसके अर्थों का ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए-

ॐ-

ओमित्येव सुनामध्येयमनधं विश्वात्मनो ब्रह्मणः ।
सर्वेष्वेव हितस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम् ॥
यं वेदा निगदन्ति न्याय निरतं श्रीसच्चिदानन्दकम् ।
लोकेशं समदर्शिनं नियमिनं चाकार हीनं प्रभुम् ॥

अर्थ-जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानन्द, सर्वेश्वर, समदर्शी, नियामक, प्रभु और निराकार कहते हैं, जो विश्व में आत्मा रूप से व्यापक है । उस ब्रह्म के समस्त नामों में श्रेष्ठ नाम पाप रहित पवित्र और ध्यान करने योग्य ॐ यह ही मुख्य नाम माना गया है ।

भावार्थ-परमात्मा को प्राप्त करने और प्रसन्न करने का मार्ग उसके नियमों पर चलना है । वह निन्दा स्तुति से प्रभावित नहीं होता, वरन् कर्मों के अनुसार फल देता है । परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर गुप्त रूप से भी पाप न करना चाहिए । प्राणियों की सेवा करना परमात्मा की ही पूजा है । परमात्मा को अपने अन्तर में अनुभव करने से आत्मा पवित्र होता है और सत्, चैतन्यता तथा आनन्द की अनुभूति होती है ।

भूः-

भूव प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्त पारंगताः ।
प्राणः सर्व विचेतनेषु प्रसृतः सामान्य रूपेण च ॥

एतेनैव विसिद्धयते हि सकलं नूनं समानं जगत् ।
दृष्टव्यं सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यं ह्यतश्चात्मवत् ॥

अर्थ–मुनि लोग प्राण को भूः कहते हैं । यह प्राण समस्त प्राणियों में समान रूप से फैला हुआ है । इससे सिद्ध है कि यहाँ सब समान है । अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही देखना चाहिए ।

भावार्थ–अपने समान सबको कष्ट होता है इसलिए किसी को सताना न चाहिए । दूसरों से वही व्यवहार करना चाहिए जो हम दूसरों से अपने लिए चाहते हैं । सबमें समत्व की दृष्टि रखनी चाहिए । कुल, वंश, देश, जाति, समुदाय, स्त्री-पुरुष आदि विभागों के कारण किसी को नीच-ऊँच, छोटा-बड़ा नहीं समझना चाहिए । उच्चता और नीचता का कारण तो भले-बुरे कर्म ही हो सकते हैं ।

भुवः-

भुवर्नाशो लोके सकल विपदां वै निगदितः ।
कृतं कार्यं कर्तव्यमिति मनसा चास्य करणम् ॥
फलाशा मर्त्या ये विदधति न वै कर्म निरताः ।
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम् ॥

अर्थ–संसार में समस्त दुःखों का नाश ही भुवः कहलाता है । कर्तव्य भावना से किया गया कार्य ही 'कर्म' कहलाता है । परिणाम के सुख की अभिलाषा छोड़कर जो कर्म करते हैं । वे मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं ।

भावार्थ–मनुष्य का अधिकार कर्म करना है, फल देने वाला ईश्वर है । अमुक वस्तु प्राप्त होने पर ही सुख माना जाय, ऐसा सोचने की बजाय ऐसा सोचना चाहिए कि कर्तव्य पालन ही हमारे लिए आनन्द का सर्वोत्तम केन्द्र है । जो अपने कर्तव्य कर्म को ही अपना लक्ष्य मान लेता है, वह कर्मयोगी हर समय सुखी रहता है, जो इच्छित फल की आशा के लिए लटका रहता है, उस तृष्णावान् को सदा बेचैनी रहती है और अनेक बार

निराश एवं दु:खी होना पड़ता है । सदुद्देश्य के लिए मनुष्य को सदा सत्कर्म करते रहना चाहिए । गीता के कर्म योग का यही तत्व है ।

स्व:-

स्वरेषो वे शब्दो निगदति मनः स्थैर्य करणम् ।
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्युपदिशति चित्तस्यचलतः ॥
निमग्नत्वं सत्यव्रत सरसि चा चक्षत उत ।
त्रिधां शन्तिह्येभिर्भुवि च लभते संयम रतः ॥

अर्थ-'स्व' यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है । चंचल मन को सुस्थिर और स्वस्थ रखो-यह उपदेश देता है । सत्य में निमग्न रहो-यह कहता है । इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शांति को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ-अनिच्छित परिस्थिति प्राप्त होने पर प्राय: मनुष्य शोक, दु:ख, क्रोध, द्वेष, दीनता, निराशा, चिन्ता, भय, बेचैनी आदि से उद्विग्न होकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर अहंकार, मद, उद्दंडता, खुशी में फूलकर अस्वाभाविक आचरण करना, इतराना, अपव्यय, शेखी आदि से ग्रस्त हो जाते हैं । यह दोनों ही स्थितियाँ एक प्रकार के नशे का ज्वर हैं, यह विवेक को अन्धा कर देते हैं जिससे विचार और कार्यों की उचित शृंखला नष्ट भ्रष्ट हो जाती है और आदमी अंधा तथा बाबला बन जाता है । इन सत्यानाशी तूफानों से आत्मा की रक्षा करने के लिए मन को स्थिर, संतुलित, स्वस्थ एवं वास्तविक बनाना चाहिए तभी मनुष्य को आत्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शांति मिल सकती है ।

तत्-

ततोवैनिष्पत्तिः स भुविमतिमान् पण्डितवरः ।
विजानन् गुह्यं जीवन मरणयोर्यस्तु निखिलम् ॥
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्ति रहितः ।
तथा निर्माणं वै निज गति विधीना प्रकुरुते ॥

अर्थ–तत् शब्द यह बतलाता है कि इस संसार में वही बुद्धिमान है जो जीवन-मरण के रहस्य को जानता है । भय और आसक्ति रहित होकर जीता है और अपनी गतिविधियों का निर्माण करता है ।

भावार्थ–मृत्यु सदा सिर पर खड़ी नाचती रहती है, इस समय सांस चल रही है अगले ही क्षण बन्द हो जाय इसका क्या ठिकाना है । यह सोचकर इस सुर दुर्लभ मानव जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहिए और थोड़े जीवन में क्षणिक सुख के लिए पाप क्यों किये जाँय ? जिससे चिरकाल तक दुःख भोगने पड़ें, ऐसा विचारना चाहिए ।

यदि विद्याध्ययन, समाज सुधार, धर्मप्रचार आदि श्रेष्ठ कार्य करने हों तो ऐसा सोचना चाहिए कि जीवन अखण्ड है । यदि इस शरीर से यह कार्य पूरा न हो सका तो अगले में पूरा करेंगे । यह निर्विवाद है कि जो इस जीवन का सदुपयोग कर रहा है उसे मृत्यु के पश्चात् भी आनन्द ही मिलेगा, परलोक, पुनर्जन्म आदि में सुख ही प्राप्त होगा पर जो इन जीवन क्षणों का दुरुपयोग कर रहा है, उसका भविष्य अन्धकार मय है । इसलिए जो बीत चुका, उसके लिए दुःख न करते हुए शेष जीवन का सदुपयोग करना चाहिए ।

सवितु-

सवितुस्तु पदं वितनोति ध्रुवं,
मनुजोवलवान् सवितेवभवेत् ।
विषया अनुभूति परिस्थितय,
श्च सदात्मन एवं गणेदति सः ॥

अर्थ–सवितुः यह पद बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान होना चाहिए और सभी विषय, अनुभूतियाँ अपने आत्मा से ही संबंधित हैं ऐसा विचारना चाहिए ।

भावार्थ–सूर्य को वीर्य और पृथ्वी को रज कहा जाता है । सूर्य की शक्ति से संसार की सब क्रियाऐं होती हैं । इसी प्रकार आत्मा अपनी

क्रियाशीलता द्वारा विविध प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है । प्रारब्ध, भाग्य, दैव आदि भी अपने प्राचीन कर्मों का ही परिपाक मात्र है । इसलिए अपने लिए जैसी परिस्थिति अच्छी लगती है, उसी के योग्य अपने को बनाना चाहिए । अपना भाग्य निर्माण करना हर मनुष्य के अपने हाथ में है । इसलिए आत्म-निर्माण की ओर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए । बाहर की सहायता भी अपनी अन्तरंग स्थिति के अनुकूल ही मिलती है ।

मनुष्य को तेजस्वी, बलवान्, पुरुषार्थी बनना चाहिए । स्वास्थ्य, विद्या, धन, चतुरता, संगठन, यश, साहस और सत्य, इन आठ बलों से अपने को सदैव बलवान बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि बलवान् मनुष्य ही आत्मोन्नति, दूसरों की सेवा तथा न्याय की रक्षा कर सकता है ।

वरेण्यं-

वरेण्यञ्चैतद्वै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम् ।
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत् ॥
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत् ।
तदेत्थं श्रेष्ठत्वं ब्रजति मनुजः शोभित गुणैः ॥

अर्थ-वरेण्य, यह शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिए । श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिन्तन करना, श्रेष्ठ विचारना, श्रेष्ठ कार्य करना, इस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है ।

भावार्थ-मनुष्य वैसा ही बनता है जैसे कि उसके विचार होते हैं । विचार साँचा है और जीवन गीली मिट्टी । जैसे विचारों में हम डूबे रहते हैं, हमारा जीवन उसी ढाँचे में ढल जाता है, वैसे ही आचरण होने लगते हैं, वैसे ही साथी मिलते हैं, उसी दिशा में जानकारी रुचि तथा प्रेरणा मिलती है । इसलिए यदि अपने को श्रेष्ठ बनाना है तो सदा श्रेष्ठ मनुष्यों के सम्पर्क में रहना, श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ना, श्रेष्ठ बातें सोचना, श्रेष्ठ घटनाऐं देखना, श्रेष्ठ कार्य करना आवश्यक है । दूसरों में जो श्रेष्ठताऐं हैं, उनकी कद्र करना और

उहें अपनाना, श्रेष्ठता में श्रद्धा रखना-यह सब बातें उन लोगों के लिए बहुत आवश्यक हैं जो अपने को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं ।

भर्गो-

भर्गोवेतिपदं च व्याहरति वै लोकः सुलोको भवेत् ।
पापे पाप विनाशने त्वभिरतो दत्तावधानो वसेत् ॥
दृष्ट्वा दुष्कृतिदुर्विपाक निचयंतेभ्यो जुगुप्सेद्धिच ।
तन्नाशाय विधीयतां च सततं संघर्षमेभिःसहः ॥

अर्थ-भर्गः यह पद बताता है कि मनुष्यों को निष्पाप बनना चाहिए । पापों से सावधान रहना चाहिए । पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करें और निरन्तर उनको नष्ट करने के लिए संघर्ष करना चाहिए ।

भावार्थ-संसार में जितने दुःख हैं, पापों के कारण हैं । अस्पतालों में, जेलखानों में तथा अन्यत्र नाना प्रकार के अन्य कष्टों से पीड़ित मनुष्य अब के या पुराने पापों से ही दुःख भोगते हैं । नरक में भी पापी ही त्रास पाते हैं । संत और परोपकारी पुरुष दूसरों के पापों का बोझ अपने सिर पर लेकर दुःख उठाते हैं और उन्हें शुद्ध करते हैं । चाहे दूसरों का दुःख कोई संत सहे, चाहे पापी स्वयं सहे । हर हालत में दुःखों का कारण पाप ही है इसलिए जिन्हें दुःख का भय है और सुख की इच्छा है, उन्हें चाहिए कि पापों से बचें, दूसरों को बचावें और भूतकाल के पापों के लिए प्रायश्चित्य करें । पापों से सावधानी रखना और उन्हें भीतर, बाहर से नष्ट करने के लिए संघर्ष करना-यह बहुत बड़ा पुण्य कार्य है । क्योंकि इससे अगणित प्राणी दुःखों से छुटकारा पाकर सुखी बन गये हैं । निष्पापता में ही सच्चे आनन्द का निवास है ।

देवस्य-

देवस्येति तुव्याकरोत्यमरतां मर्त्योऽपि संप्राप्यते ।
देवानामिव शुद्ध दृष्टि करणात् सेवोपचारादभुवः ॥
निःस्वार्थं परमार्थकर्म करणात् दीनाय दानात्तथा ।
वाह्याभ्यन्तरमस्य देवभुवनं संसृज्यते चैवहि ॥

अर्थ–'देवस्य' यह पद बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात् देवत्व को प्राप्त हो सकता है । देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ कर्म करने से, निर्बलों की सहायता करने से मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है ।

भावार्थ–परमात्मा की बनाई हुई इस पवित्र सृष्टि में जो कुछ है पवित्र और आनन्दमय ही है । इस दृष्टि से संसार को प्रसन्नता की दृष्टि से देखना, उसमें मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की गई बुराइयों को दूर करना और ईश्वरीय श्रेष्ठताओं को विकसित करना, प्रचलित करना देव कर्म है । इस देव दृष्टि को धारण करने से मनुष्य देवता बन सकता है । जो अपने को शरीर न समझ कर आत्मा अनुभव करता है वह अमर है, उसके पास से मृत्यु का भय दूर चला जाता है । प्राणियों को प्रेम और आत्मीयता की पवित्र दृष्टि से देखना, अपने आचरणों को पवित्र रखना, अपने से निर्बलों को ऊँचा उठाने के लिए अपनी शक्तियों का दान करना यह देवत्व है । इन गुणों वाले के लिए यह भूलोक भी देवलोक के समान आनन्दमय बन जाता है ।

धीमहि-

धीमहि सर्वविधं हृदये शुचि,
शक्तिचयं वयमित्युपदिष्ट्वा ।
नो मनुजोलभते सुखशान्ति,
मनेन विनेति वदन्ति हि वेदाः ॥

अर्थ–हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें । वेद कहते हैं कि इसके बिना मनुष्य सुख-शांति को प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ–संसार में भौतिक शक्तियाँ अनेक हैं । धन, पद, वैभव, राज्य, शरीर बल, संगठन, शास्त्र, विद्या, बुद्धि, चतुरता, कोई विशेष योग्यता आदि के बल पर लोग ऐश्वर्य और प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं पर यह अस्थायी होती हैं । इनसे सुख मिल सकता है और वह छोटे-मोटे आघात में ही नष्ट भी हो सकता है । स्थायी सुख आध्यात्मिक पवित्र गुणों में है जिन्हें 'दैवी

सम्पदायें' या 'दिव्य शक्तियाँ' भी कहते हैं । निर्भयता, विवेक, स्थिरता, उदारता, संयम, परमार्थ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, दया, सत्य, अहिंसा, नम्रता, धैर्य, अद्रोह, प्रेम, न्यायशीलता, निरालस्यता आदि दैवी गुणों के कारण जो सुख मिलता है उसकी तुलना किसी भी भौतिक सम्पदा से नहीं हो सकती इसलिए अपना दैवी सम्पदाओं का कोष बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

धियो-

धियोवोन्मथ्याच्छ्रगमनिगम मंत्रान् सुमतिवान् ।
विजानीयात्तत्वं विमल नवनीतं परमिव ॥
यतोऽस्मिन् लोके वै संशयगत विचार स्थलशते ।
मतिः शुद्धैवाञ्छा प्रकटयति सत्यं सुमन से ॥

अर्थ–बुद्धिमान को चाहिए कि वह वेद शास्त्रों को बुद्धि से मथकर मक्खन के समान उत्कृष्टतत्व को जाने । क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है ।

भावार्थ–संसार में अनेक विचारधाराऐं हैं, उनमें से अनेक आपस में टकराती भी हैं । एक शास्त्र के सिद्धांत दूसरे शास्त्र के विपरीत भी बैठते हैं, इसी प्रकार एक विद्वान् या ऋषि के विचार दूसरे विद्वान् या ऋषि के विचारों से पूर्णतया मेल नहीं खाते । ऐसी स्थिति में विचलित न होना चाहिए । देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार जो बात एक समय बिल्कुल ठीक होती है, वही भिन्न परिस्थिति में गलत भी हो सकती है । जाड़े के दिनों में जो कपड़े लाभदायक होते हैं, उनसे गर्मी में काम नहीं चल सकता, इसी प्रकार एक परिस्थिति में जो बात उचित है, वह दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो जाती है । इसलिए किसी ऋषि, विद्वान्, नेता या शास्त्र की निन्दा न करते हुए हमें उनमें से वही तत्व लेने चाहिए जो आज की स्थिति के अनुकूल है । इस उचित-अनुचित का निर्णय, तर्क, विवेक और न्याय के आधार पर वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए ।

यो नः-

योनोवास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाऽधिकश्चाथवा ।
भागं नूनतमं हितस्य विदधेमात्मप्रसादाय वै ॥
तत्पश्चादवशिष्ट भागमखिलं त्यक्त्वा फलशांह्रदि ।
तद्धीनेष्वभिलाषवस्तु वितरेमांगीषुरित्यंवयम् ॥

अर्थ-हमारी जो भी शक्तियाँ एवं साधन हैं चाहे वे न्यून हों अथवा अधिक हों, उसके न्यून से न्यून भाग को अपनी आवश्यकता के लिए प्रयोग में लावें । शेष को निस्वार्थ भाव से उन्हें अशक्त व्यक्तियों में बाँट दें ।

भावार्थ-भगवान् ने मनुष्य को ज्ञान, बल तथा वैभव एक अमानत के रूप में इसलिए दिया है कि इन विभूतियों से सुसज्जित होकर मान, यश, सुख तथा पुण्य का श्रेय प्राप्त करें, परन्तु इनका लाभ अधिक से अधिक मात्रा में दूसरों को उठाने दें । अपने ऐशो-आराम, भोग, संचय या अहंकार की पूर्ति में इनका उपयोग नहीं होना चाहिए । वरन् लोकहित के लिए अपने से निबलों की सहायता के लिए इनका उपयोग किया जाना चाहिए । विद्वान्, बलवान या धनवान का गौरव इसी बात में है कि उनके द्वारा कम ज्ञान वालों को, निर्बलों को, निर्धनों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाय । जैसे वृक्ष, कूप, तड़ाग, उपवन, पुरुष, अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि श्रेष्ठ समझे जाने वाले पदार्थ अपनी महान् शक्तियों को लोक-हित के लिए सदैव वितरित करते रहते हैं, वैसे ही हमें भी अपनी शक्तियों का जीवन निर्वाह मात्र भाग अपने लिए रखकर शेष को जनहित के लिए समर्पित कर देना चाहिए ।

प्रचोदयात्-

प्रचोदयात् स्वं त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्य वर्त्मनि ।
कृतं हि कर्मोखिलमित्थ मंगिना,
विपश्चितैर्धर्म इति प्रचक्षते ॥

(यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ,

अर्थ–मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरणा दे । इस प्रकार किए हुए सब कामों को विद्वान लोग धर्म कहते हैं ।

भावार्थ–प्रेरणा संसार की सबसे बड़ी शक्ति है । इसके बिना सारी साधन-सामग्री बेकार है, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो । प्रेरणा से उत्साहित और प्रवृत्त हुआ मनुष्य यदि कार्य आरम्भ कर देता है तो साधन अपने आप जुटा लेता है, उसे ईश्वरीय सहायताऐं मिलती हैं और अनेक सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं । इसलिए अपने आपको सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देना चाहिए तथा दूसरों को उत्तमता की दिशा में अग्रसर करने के लिए उन्हें प्रेरित करना चाहिए । वस्तुऐं देकर किसी का उतना उपकार नहीं किया जा सकता जितना कि प्रेरणा देकर उन्नति या समृद्ध बनाया जा सकता है । सत्कार्य के लिए प्रेरणा देना, इतना बड़ा पुण्य कार्य है कि उसकी तुलना में छोटी-मोटी पुण्य क्रियाऐं बहुत ही तुच्छ बैठती हैं ।

गायत्री गीता के उपरोक्त मंत्रार्थों पर विचार करने के पश्चात् हम इस महाविज्ञान को सरलतापूर्वक हृदयंगम करने के लिए चार भागों में विभक्त कर सकते हैं । १-प्रणव तथा तीनों व्याहृतियाँ अर्थात् यज्ञोपवीत की चारों ग्रन्थियाँ, २-गायत्री का प्रथम चरण अर्थात् यज्ञोपवीत की प्रथम लड़, ३-द्वितीय चरण अर्थात् द्वितीय लड़, ४-तृतीय चरण अर्थात् तृतीय लड़ । आइए, अब इन पर विचार करें-

१-प्रणव तथा व्याहृतियों का तात्पर्य उपरोक्त अर्थ के अनुसार यह है-परमात्मा सर्वत्र समस्त प्राणियों में समाया हुआ है, इसलिए लोक सेवा के लिए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए और अपने मन को स्थिर तथा शांत रखें ।

२-शरीर अस्थायी औजार मात्र है इसलिए उस पर अत्यधिक आसक्त न होकर आत्मबल बढ़ाने का, श्रेष्ठ मार्ग का, सत्कर्मों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए ।

३-पापों के विरुद्ध रहने वाला मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है । जो पवित्र आदर्शों और साधनों को अपनाता है, वही बुद्धिमान है ।

४-विवेक द्वारा शुद्ध बुद्धि से सत्य को जानने, संयम और त्याग की नीति का आचरण करने के लिए अपने को तथा दूसरों को प्रेरणा देनी चाहिए ।

यह चतुर्मुखी नीति यज्ञोपवीत धारी की होती है । इस सबका सारांश यह है कि उचित मार्ग से अपनी शक्तियों को बढ़ाओ और अन्तःकरण को उदार रखते हुए अपनी शक्तियों का अधिकांश भाग जनहित के लिए लगाये रहो । इसी कल्याणकारी नीति पर चलने से मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समस्त संसार में समिष्टि रूप से सुख-शांति प्राप्त कर सकता है । यज्ञोपवीत और गायत्री के इस संदेश के अतिरिक्त और कोई मार्ग ऐसा नहीं जिससे वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख-शांति स्थिर रह सके । हे द्विजो ! इसी मार्ग पर चलो, गायत्री और उपवीत का आश्रय ग्रहण करो, स्वयं आनन्द से जिओ और दूसरों को चैन से जीने दो ।

भूलोक का कल्पवृक्ष—यज्ञोपवीत

सुरलोक में एक ऐसा कल्पवृक्ष है जिसके नीचे बैठ कर जिस वस्तु की कामना की जाय, वही वस्तु तुरन्त सामने उपस्थित हो जाती है । जो भी इच्छा की जाय, तुरन्त पूर्ण हो जाती है । वह कल्पवृक्ष जिन के पास होगा वे कितने सुखी और संतुष्ट होंगे, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ।

पृथ्वी पर भी एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसमें सुरलोक के कल्पवृक्ष की सभी संभावनाऐं छिपी हुई हैं । इसका नाम है-गायत्री । गायत्री मंत्र को स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो वह चौबीस अक्षरों और नौ पदों की एक शब्द शृंखला है, परन्तु यदि गंभीरता पूर्वक अवलोकन किया जाय तो उसके प्रत्येक पद और अक्षर में ऐसे तत्वों का रहस्य छिपा हुआ मिलेगा जिनके द्वारा कल्पवृक्ष के समान ही समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है ।

(यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ,

इस पुस्तक में ३५ वें पृष्ठ पर एक चित्र में बताया जा चुका है कि योपवीत के नौ सूत्रों में गायत्री का एक पद किस प्रकार गुंथा हुआ है । 'गायत्री गीता' में नौ पदों का पृथक-पृथक श्लोकों में भावार्थ भी बताया जा चुका है । उस भावार्थ का तात्पर्य नौ तथ्यों से है जो मानव जीवन को सब प्रकार सुख-शांति से परिपूर्ण कर सकते हैं ।

अगले पृष्ठ पर 'गायत्री कल्पवृक्ष' का चित्र दिया हुआ है । इसमें बताया गया है 'ॐ' ईश्वर, आस्तिकता ही भारतीय धर्म का मूल है । इससेआगे बढ़कर उसके तीन विभाग होते हैं-भूः भुवः स्वः । भूः का अर्थ है-आत्मज्ञान । भुवः का अर्थ है-कर्म योग । स्वः का तात्पर्य है-स्थिरता समाधि । इन तीन शाखाओं में से प्रत्येक में से तीन-तीन टहनियाँ निकलती हैं, उनमें से प्रत्येक के भी अपने-अपने तात्पर्य हैं । तत्-जीवन विज्ञान । सवितुः-शक्ति संचय । वरेण्यं-श्रेष्ठता । भर्गो-निर्मलता । देवस्य-दिव्य दृष्टि । धीमहि-सद्गुण । धियो-विवेक । योनः-संयम । प्रचोदयात्-सेवा । गायत्री हमारी मनोभूमि में इन्हीं बीजों को बोती है । फलस्वरूप जो खेत उगता है, वह कल्पवृक्ष से किसी भी प्रकार कम नहीं होता है ।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि कल्पवृक्ष के सब पत्ते रत्न जड़ित हैं । वे रत्नों जैसे सुशोभित और बहुमूल्य होते हैं । गायत्री कल्पवृक्ष के उपरोक्त नौ पत्ते, निःसंदेह नौ रत्नों के समान मूल्यवान् और महत्वपूर्ण हैं । प्रत्येक पत्ता-प्रत्येक गुण-एक-एक रत्न से किसी भी प्रकार कम नहीं है । 'नौलखा हार' की जेवरों में बहुत प्रशंसा है । नौ लाख रुपये की लागात से बना हुआ 'नौलखा' हार पहनने वाले अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझते थे । यदि गंभीर, तात्विक और दूर दृष्टि से देखा जाय तो यज्ञोपवीत भी नवरत्न जड़ित नौलखा हार से किसी भी प्रकार कम महत्व का नहीं है । यज्ञोपवीत के नौ तार जिन नौ गुणों को धारण करने, अपनाने का आदेश करते हैं, वे इतने महत्वपूर्ण हैं कि नौ रत्नों की तुलना में इन गुणों की ही महिमा अधिक है ।

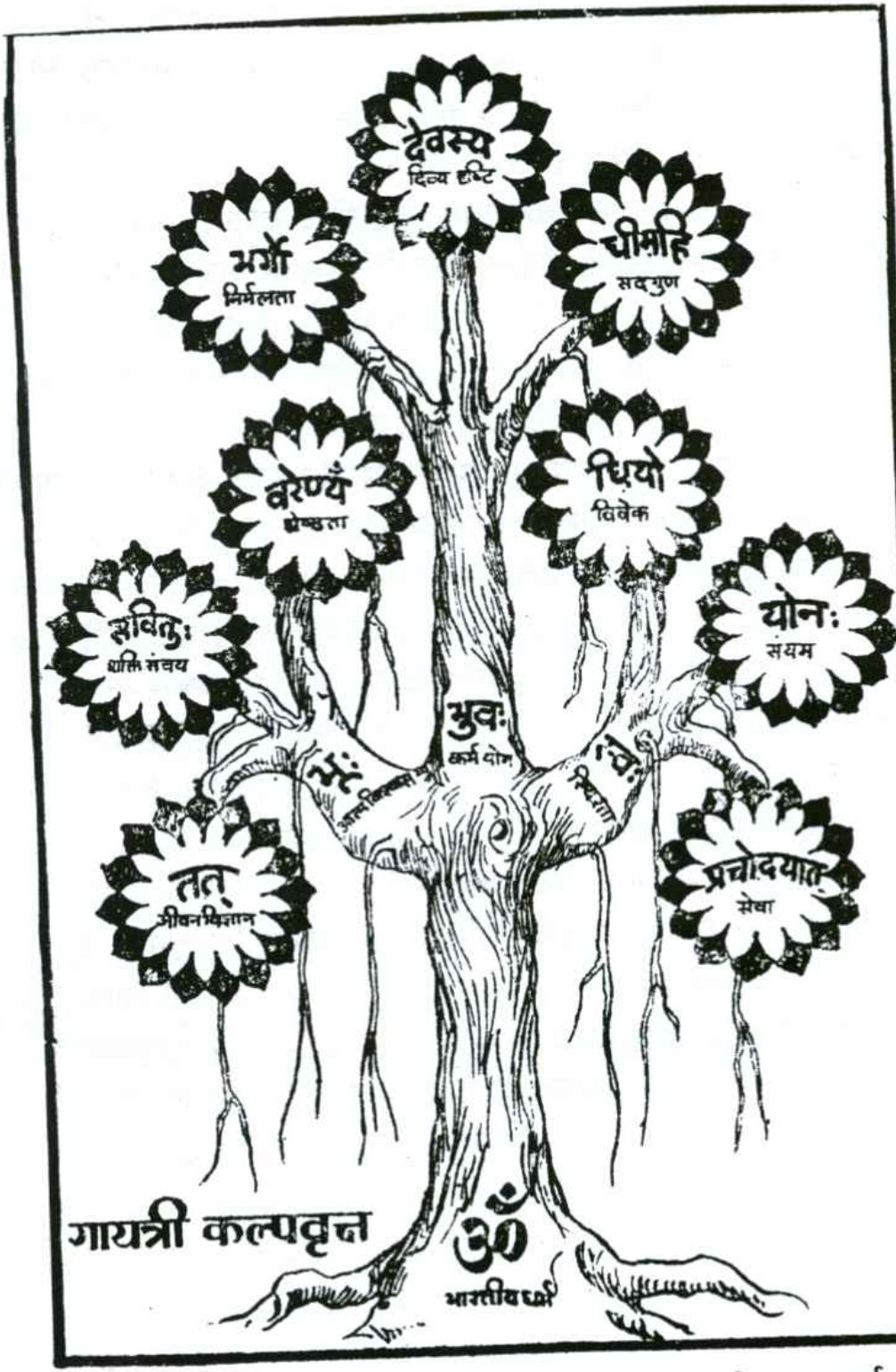

(यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ,

(१) जीवन विज्ञान की जानकारी होने से मनुष्य जन्म-मरण के रहस्य को समझ जाता है । उसे मृत्यु का डर नहीं लगता, सदा निर्भय रहता है, उसे शरीर का तथा सांसारिक वस्तुओं का लोभ-मोह भी नहीं होता । फलस्वरूप जिन साधारण हानि-लाभों के लिए लोग बेतरह दुःख के समुद्र में डूबते और हर्ष के मद में उछलते फिरते हैं, उन उन्मादों से वह बच जाता है । (२) शक्ति संचय की नीति अपनाने वाला दिन-दिन अधिक स्वस्थ, विद्वान्, बुद्धिमान, धनी, सहयोग सम्पन्न, प्रतिष्ठावान् बनता जाता है । निर्बलों पर प्रकृति के, बलवानों के तथा दुर्भागय के जो आक्रमण होते रहते हैं, उनसे वह बचा रहता है और शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवन के नाना विधि आनन्दों को स्वयं भोगता है एवं अपनी शक्ति द्वारा दूसरे निर्बलों की सहायता करके पुण्य का भागी बनता है । अनीति वहीं पनपती है, जहाँ शक्ति का संतुलन नहीं होता, शक्ति संचय का स्वाभाविक परिणाम है-अनीति का अन्त जो कि सभी के लिए कल्याणकारी है ।

(३) श्रेष्ठता का अस्तित्व परिस्थितियों में नहीं विचारों में होता है । जो व्यक्ति साधन-सम्पन्नता में बढ़े-चढ़े हैं, परन्तु लक्ष्य, सिद्धांत, आदर्श एवं अन्तःकरण की दृष्टि से गिरे हुए हैं, उन्हें निकृष्ट ही कहा जायगा । ऐसे निकृष्ट आदमी अपने आत्मा की दृष्टि में, परमात्मा की दृष्टि में और दूसरे सभी विवेकवान व्यक्तियों की दृष्टि में नीच श्रेणी के ठहरते हैं । अपनी नीचता के दण्ड स्वरूप आत्म ताड़ना, ईश्वरी दण्ड और बुद्धि भ्रम के कारण मानसिक अशांति में डूबे रहते हैं । इसके विपरीत कोई व्यक्ति भले ही गरीब, साधनहीन हो पर उसका आदर्श, सिद्धांत, उद्देश्य एवं अन्तःकरण उच्च तथा उदार है तो वह श्रेष्ठ ही कहा जायगा । यह श्रेष्ठता उसके लिए इतने आनन्द का अनुभव करती रहती है जो बड़ी से बड़ी सांसारिक संपदा से भी संभव नहीं ।

(४) निर्मलता का अर्थ है-सौंदर्य । सौंदर्य वह वस्तु है, जिसे मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी और कीट-पतंग तक पसंद करते हैं । यह

निश्चित है कि कुरूपता का कारण गंदगी है । मलिनता जहां भी होगी, वहाँ कुरूपता रहेगी और वहाँ से दूर रहने की सबकी इच्छा होगी । शरीर के भीतर मल भरे होंगे तो मनुष्य कमजोर और बीमार रहेगा । इसी प्रकार कपड़े, घर, भोजन, त्वचा, बाल, प्रयोजनीय पदार्थ आदि में गंदगी होगी तो वह घृणास्पद, अस्वास्थ्य कर, निकृष्ट एवं निन्दनीय बन जावेंगे । मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में मलिनता हो तब तो कहना ही क्या है, ऐसे इंसान का स्वरूप हैबान और शैतान से भी बुरा हो जाता है । इन विकृतियों से बचने का एक मात्र उपाय 'सर्वतोमुखी निर्मलता' है । जो भीतर बाहर सब ओर से निर्मल है, जिसकी कमाई, विचारधारा, देह, वाणी, पोशाक, झोंपड़ी, प्रयोजनीय सामग्री निर्मल है, स्वच्छ है, शुद्ध है, वह सब प्रकार सुन्दर, प्रसन्न, प्रफुल्ल, मृदुल एवं संतुष्ट दिखाई देगा ।

(५) दिव्यदृष्टि से देखने का अर्थ है-संसार के दिव्य तत्वों के साथ अपना संबंध जोड़ना । हर पदार्थ अपने सजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचता है और उन्हीं की ओर खुद खिंचता है । जिसका दृष्टिकोण संसार की अच्छाइयों को देखने, समझने और अपनाने का है, वह अपने चारों ओर अच्छे व्यक्तियों को देखते हैं । लोगों के उपकार, भलमनसाहत, सेवाभाव, सहयोग और सत्कार्यों पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में बुराइयों की अपेक्षा अच्छाइयाँ अधिक हैं और संसार हमारे साथ अपकार की अपेक्षा उपकार कहीं अधिक कर रहा है । आँखों पर जैसे रंग का चश्मा पहन लिया जाय, वैसे ही रंग की सब वस्तुऐं दिखाई पड़ती हैं, जिनकी दृष्टि दूषित है, उनके लिए प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी बुरा है पर जो दिव्य दृष्टि वाले हैं, वे प्रभु की इस परम पुनीत फलवारी में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बरसता देखते हैं ।

(६) सद्गुण-अपने में अच्छी आदतें, अच्छी योग्यताऐं, अच्छी विशेषताऐं धारण करना सद्गुण कहलाता है । विनय, नम्रता, शिष्टाचार, मधुर-भाषण, उदार व्यवहार, सेवा, सहयोग, ईमानदारी, मितव्ययता,

मर्यादित रहना, कर्तव्य परायणता, जागरूकता, प्रसन्नमुख मुद्रा, धैर्य, साहस, पराक्रम, पुरुषार्थ, आशा-उत्साह-यह सब सद्‌गण हैं । संगीत, साहित्य, कला, शिल्प, व्यापार, वक्तृता, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षण आदि योग्यताऐं होना सद्‌गुण हैं । इस प्रकार के सद्‌गुण जिसके पास हैं, वह कितना आनन्दमय जीवन बितावेगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ।

(७) विवेक-एक प्रकार का आत्मिक प्रकाश है, जिसके द्वारा सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, आवश्यक-अनावश्यक की, हानि-लाभ की परीक्षा होती है । संसार में असंख्यों परस्पर विरोधी मान्यताऐं, रिवाजें, विचारधाराऐं प्रचलित हैं और उनमें से हर एक के पीछे कुछ तर्क, कुछ आधार, कुछ उदाहरण तथा कुछ पुस्तकों एवं महापुरुषों के नाम अवश्य संबद्ध होते हैं, ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि इन परस्पर विरोधी बातों में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? इस संबंध में देश, काल, परिस्थिति, उपयोगिता, जनहित आादि बातों को ध्यान में रखते हुए सद्‌बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है, वही प्राणामिक एवं ग्राह्य होता हे । जिसने उचित निर्णय कर लिया तो समझिए कि उसने सरलता पूर्वक, सुख-शांति के लक्ष्य तक पहुँचने की सीधी राह पाली । संसार में अधिकांश कलह, क्लेश, पाप एवं दुःखों का कारण दुर्बुद्धि, भ्रम तथा अज्ञान होता है । विवेकवान् व्यक्ति इन सब उलझनों से अनायास ही बच जाता है ।

(८) संयम-जीवनी शक्ति का, विचार शक्ति का, भोगेच्छा का, श्रम का, संतुलन ठीक रखना ही संयम है । न इनको घटने देना, न नष्ट होने देना और न अनुचित मार्ग में व्यय होने देना संयम का तात्पर्य है । मानव शर्रार आश्चर्यजनक शक्तियों का केन्द्र है, यदि उन शक्तियों का अपव्यय रोककर उपयोगी दिशा में लगाया जाय तो अनेक आश्चर्यजनक सफलताऐं मिल सकती हैं और जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति हो सकती है ।

(९) सेवा-सहायता, सहयोग, प्रेरणा, उन्नति की ओर, सुविधा की

ओर, किसी को बढ़ाना-यह उसकी सबसे बड़ी सेवा है । इस दिशा में हमारा शरीर और मस्तिष्क सब से अधिक हमारी सेवा का पात्र है क्योंकि वह हमारे सबसे अधिक निकट है । आमतौर से दान देना, समय देना या बिना मूल्य अपनी शारीरिक-मानसिक शक्ति किसी को देना सेवा कहा जाता है और यह अपेक्षा नहीं की जाती कि हमारे इस त्याग से दूसरों में कोई क्रिया-शक्ति, आत्मनिर्भरता, स्फूर्ति, प्रेरणा जागृत हुई या नहीं । इस प्रकार की सेवा दूसरों को आलसी, परावलम्बी और भाग्यवादी बनाने वाली हानिकर सेवा है । हम अपनी और दूसरों की इस प्रकार प्रेरक सेवा करें जो उत्साह, आत्मनिर्भरता और क्रियाशीलता को सतेज करने में सहायक हो । सेवा का फल है-उन्नति । सेवा द्वारा अपने को तथा दूसरों को समुन्नत बनाना, संसार को अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने वाला महान् पुण्य कार्य है । इस प्रकार के सेवा भावी पुण्यात्मा सांसारिक और आत्मिक दृष्टि से सदा सुखी और संतुष्ट रहते हैं ।

यह नौ गुण निःसंदेह नवरत्न है । मोती, मूँगा, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, गोमेद, बैदूर्य यह नौ रत्न कहे जाते हैं । कहते हैं कि जिनके पास यह रत्न होते हैं वे सर्व सुखी समझे जाते हैं । पर भारतीय धर्म शास्त्र कहता है कि जिनके पास यज्ञोपवीत और गायत्री मिश्रित उपरोक्त आध्यात्मिक नवरत्न हैं, वे इस भूतल के कुवेर हैं । भले ही उनके पास धन-दौलत, जमीन-जायदाद न हो । यह नव रत्न मंडित कल्पवृक्ष जिसके पास हैं, वह विवेकयुक्त यज्ञोपवीत धारी सदा सुरलोक की संपदा भोगता है, उसके लिए यह भूलोक ही स्वर्ग है, यह कलपवृक्ष हमें चारों फल देता है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चोरों सम्पदाओं से हमें परिपूर्ण कर देता है ।

उपवीत धारण में बिलम्ब क्यों ?

"वेश से भावना उत्पन्न होती है"-यह सिद्धांत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर अवलम्बित है । यदि किसी कायर पुरुष को फौजी कप्तान की पोशाक पहना दी जाय और उसे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया जाय

तो उसकी यह वेशभूषा जब तक रहेगी तब तक वह वीरता की भावना से भरा रहेगा । राज्य के उच्च पदों पर आसीन व्यक्ति यद्यपि व्यक्तिगत रूप से साधारण से नागरिक मात्र हैं पर उस पद की सत्ता और गौरव के कारण अपने आपको कोई तब तक बहुत बड़ी हस्ती समझते रहते हैं जब तक कि उस कुर्सी पर काम करते हैं । जब वे अपने पद के उत्तरदायित्व से अलग होकर कहीं दूर चले जाते हैं तब उनकी हस्ती सामान्य जनता जैसी हो जाती है । आप विचार कीजिए कि कोई साधु, महात्मा, पंडित, पुरोहित कोई दुष्कर्म प्रत्यक्ष रूप से करने का सहास न करेगा क्योंकि उसे भय रहता है कि मेरे उज्ज्वल वेश की ऐसा करने से अप्रतिष्ठा होगी, इसलिए यदि कोई बुरा काम उसे करना होता है तो लोगों को आँख बचाकर गुप्त रूप से करता है ।

लड़कियाँ जब अपनी ससुराल में होती हैं तो उनका तर्ज-तरीका, बातचीत का ढंग बधू जैसा होता है, जब वे अपने पिता के यहाँ आ जाती हैं तो लड़कियों की तरह अपना रवैया रखती हैं । स्थिति, वातावरण और वेश के अनुसार मनुष्य की विचारधाराऐं बनती हैं, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता । यज्ञोपवीत को धारण करना ऐसा ही एक मनोवैज्ञानिक प्रयोजन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने आपकी दृष्टि में तथा दूसरों की दृष्टि में सिद्धांतवादी, आदर्श का अनुयायी, मनुष्यता का पुजारी, पशुता के बन्धनों से मुक्ति पाने का आकांक्षी तथा सन्मार्ग का पथाचारी बनता है । कंधे पर रख हुआ ब्रह्मसूत्र इस बात का साक्षी है, घोषणा पत्र है, प्रतीक है कि यह व्यक्ति मनुष्यता के महान् उत्तरदायित्वों से अनभिज्ञ नहीं है और न उस ओर उपेक्षा एवं अकर्मण्यता धारण किये हुए प्रसुप्त अवस्था में पड़ा हुआ है वरन् जितना भी उसे अवसर मिल रहा है अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उस ओर चल रहा है जिस ओर कि एक धर्म प्रेमी को चलना चाहिए ।

यज्ञोपवीत पूर्णता का प्रतीक नहीं वरन् इस बात का चिह्न है कि

धर्म, कर्तव्य और संस्कृति की रक्षा की जिम्मेदारी को स्वीकार कर लिया गया है और उस बोझ को उठाने के लिए कंधा लगा दिया है । कर्मवीरों की सेना में भर्ती हो जाना जैसा ही द्विजत्व का व्रत है । यह व्रत हर भारत माता की संतान को लेना चाहिए, चाहे वह वर्तमान स्थिति में किसी कदर अपने को निर्बल ही क्यों न अनुभव करता हो । अनेक अनाथ बालक अपने जीवन का बोझ अपने ऊपर उठाते हैं, वे अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक चतुर हो जाते हैं । यद्यपि वयस्क पुरुष की भाँति वे अपने बोझ को ठीक प्रकार उठा कर नहीं चल पाते, बार-बार भूलते और गलती करते हैं फिर भी जो कुछ वे कर पाते हैं वह सब भी कम प्रशंसा के योग्य नहीं होता । जो ऐसा अनुभव करते हैं कि हममें बहुत कमजोरी है, जनेऊ हम से न सधेगा, उन्हीं लोगों से हमारा इन पंक्तियों में विशेष अनुरोध है कि उपवीत को अवश्य धारण करें, यह कमजोरी ही इस बात का प्रबल कारण है कि उन्हें ही इसके धारण की सबसे अधिक आवश्यकता है । यदि वे पूर्ण उपवीत न ले सकें तो आरंभ में अर्द्ध उपवीत-कंठी लेकर कार्य आरम्भ कर सकते हैं पर इस दिशा में उन्हें कदम अवश्य उठाना चाहिए ।

यज्ञोपवीत का आरंभ-संस्कार पूर्वक होना चाहिए । यों कोई व्यक्ति किसी स्त्री को साथ लेकर चल दे और गृहस्थ धर्म पालन करने लगे तो भी प्रत्यक्षत: कुछ विशेष हर्ज दिखाई नहीं पड़ता, तो भी इतना निश्चित है कि देवताओं की साक्षी, प्रतिष्ठित पंच परमेश्वरों के सामने प्रतिज्ञा, वचन स्वीकार करते हुए वेदमंत्रों के साथ जो कन्यादान पाणिग्रहण का शुभ संस्कार होता है, उसको अकारण या व्यर्थ नहीं कहा जा सकता । विवाह संबंध के समान ही यज्ञोपवीत भी गुरु दीक्षा, गायत्री द्वारा वेदारंभ यह किसी कन्यादान और पाणिग्रहण से किसी प्रकार कम नहीं है ।

जो लोग सम्पन्न हैं, जो सावित्री पतित नहीं हुए हैं अर्थात् जिनकी आयु अपने अपने वर्ण के हिसाब से (ब्राह्मण का उपवीत ५ से ८ वर्ष

तक की आयु तक, क्षत्रिय का ६ से ११ वर्ष तक, वैश्य का ८से १२ वर्ष तक हो जाना चाहिए) अधिक न हुई हो, उन्हें विवेकवान् विद्वान और आचरणवान् आचार्य से विधिपूर्वक उपनयन संस्कार कराना चाहिए।

जो लोग धनवान् नहीं है, अधिक आयु के हो चुके हैं, जिन्हें अवकाश कम मिलता है, जिन्हें अपने निकट कोई उपयुक्त आचार्य ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो केवल चिह्न पूजा कराने के अतिरिक्त आत्म-निर्माण का पथ प्रदर्शन कर सकें तो भी निराश होने की कोई बात नहीं, इन कठिनाइयों के कारण द्विजत्व का व्रत लेने का अनिवार्य कर्तव्य न तो स्थगित करना चाहिए और न इसको 'फिर कभी' के लिए टालना चाहिए। वरन् जितना शीघ्र हो सके किसी उपयुक्त पथ-प्रदर्शक को तलाश करके उसके द्वारा संक्षिप्त संस्कार के साथ उपवीत संस्कार करा लेना चाहिए और यज्ञोपवीत पहनना आरंभ कर देना चाहिए।

उपवीत धारणा करने के साथ-साथ वेदारंभ भी होना है। प्राचीन काल में गुरुकुलों में रहकर ब्रह्मचारी लम्बे समय तक गुरु मुख से वेद ज्ञान प्राप्त करते थे। आज यदि उतना संभव नहीं है तो भी यज्ञोपवीत के तत्वज्ञान को सविस्तार जान लेना भी किसी प्रकार वेद ज्ञान की पूर्ति कर सकता है। वेद में जिस ज्ञान की विशद व्याख्या है वह सब बीज रूप में गायत्री में मौजूद है। यदि उपवीत धारी व्यक्ति गायत्री को मनोयोग पूर्वक समझ ले तो उसे वेदाध्ययन का लाभ मिल सकता है। (१) उपवीत धारण, (२) गायत्री की दीक्षा, (३) पथ-प्रदर्शक की नियुक्ति-यह तीन कार्य एक साथ होने चाहिए। यह त्रिविध सुयोग जब एक साथ मिलता है तो त्रिवेणी के मिलन से बने तीर्थराज जैसा महान् फल मिलता है।

पाठको ! उपवीत धारण करो ! इस ऋषि ऋण को कंधे पर उठाने के लिए साहस एकत्रित करो ! तुम ब्रह्म के अंश हो, ब्रह्म सूत्र तुम्हें तुम्हारे

पिता से, ब्रह्म से बाँधता है, इस दिव्य बंधन की उपेक्षा न करो । यह तुम्हारे लिए परम कल्याणकारी है । इस महान् मित्र को कंठ से लगाओ, छाती से चिपटाओ और कंधे पर धरे फिरो, क्योंकि यह सूत्र निर्जीव होते हुए भी तुम्हारे अन्तःकरण को सजीव बना सकता है, तुम्हें अमरत्व प्रदान कर सकता है ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

मिशन की पत्रिकाएँ

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक शुल्क-108.00, आजीवन शुल्क-2000.00 रुपया।

अखण्ड ज्योति अंग्रेजी (द्वि-मासिक)

वार्षिक शुल्क-78.00 रुपया

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-281003

फोन : (0565) 2403940

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक शुल्क-54.00, आजीवन शुल्क-1000.00 रुपया।

युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक शुल्क-85.00, आजीवन शुल्क-1800.00 रुपया।

पता : युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-3

फोन : (0565) 2530128, 2530399

फैक्स : (0565) 2530200

(३) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक)

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्गदर्शन का समाचार-पत्र)

वार्षिक शुल्क-30.00 रुपया।

पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-1500.00 रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखंड) फोन : 01334-260602

YS 37

10/-